एम.ए. हिन्दी M.A. (HINDI)

पाठ्यक्रम संख्या Hin-303

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा निदेशालय

Directorate of Distance & Online Education

जम्मू विश्वविद्यालय

University of Jammu

जम्मू

Jammu

पाठ्य सामग्री

STUDY MATERIAL

एम॰ ए॰ हिन्दी

M.A. (HINDI)

SESSION 2023 ONWARDS

पाठ्यक्रम संख्या 303	**Prof. Anju Thappa**	सत्र–तीसरा
COURSE CODE HIN 303	**Co-ordinator**	**SEMESTER-III**

हिन्दी निबन्ध और आलोचना

आलेख संख्या – 1 से 16 **LESSON NO. 1- 16**

इस पाठ्य सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू–180006 के पास सुरक्षित है।

All copyright privileges of the Material vest with the Directorate of Distance & Online Education University of Jammu, Jammu - 180 006

COURSE CODE – HIN 303

Course Contributors

1. **Dr. Bandna Thakur** — Lesson No. 1 to 2
   Assistant Professor, Department of Hindi
   University of Jammu, Jammu.

2. **Dr. Rajni Bala** — Lesson No. 3 to 7
   Professor & Head, Department of Hindi
   University of Jammu, Jammu.

3. **Prof. Pushp Pal Singh** — Lesson No. 8 to 10
   Retd. Professor
   Punjabi University, Patiala

4. **Prof. Sudha Jitender** — Lesson No. 11 to 13
   Professor, Department of Hindi
   GNDU, Amritsar

5. **Dr. Vandana Sharma** — Lesson No. 14 to 16
   Assisstant Professor, Department of Hindi,
   Central University, Jammu

Editing & Proof Reading

- **Dr. Pooja Sharma,**
  Lecturer in Hindi
  DD&OE

© Directorate of Distance & Online Education, University of Jammu, Jammu, 2023

All rights reserved. No part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the DD&OE, University of Jammu.

The script writer shall be responsible for the lesson/script submitted to the DD&OE and any plagiarism shall be his/her entire responsibility

Printed by : Classic Printers / 2023 / 500

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi Under Non CBCS

Semester 3rd

Course Code HIN-303 **Title : Hindi Nibandh Aur Alochana**
Credits : 5 **Maximum Marks : 100**
Duration of Examination : 3 Hrs. **(a) Internal = 20**
(b) External = 80

Syllabus for the Examination to be held in 2022, 2023 & 2024

इकाई–एक

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि भाग–1
(श्रद्धा और भक्ति, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था; कुल दो निबन्ध)

(ख) कुबेरनाथ राय – रस आखेटक
(रस आखेटक, कवि तेरा भोर आ गया; कुल दो निबन्ध)

(ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर
(व्यक्तित्व विश्लेषण, उपसंहार, कुल दो निबन्ध)

(घ) गजानन माधव मुक्तिबोध – एक साहित्यिक की डायरी
(तीसरा क्षण, कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : एक; कुल दो निबन्ध)

इकाई–दो

निबन्ध : अर्थ और स्वरूप।

निबन्ध : विविध रूप।

आलोचना : अर्थ और स्वरूप।

आलोचना : विविध रूप।

इकाई–तीन

शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएँ।

शुक्ल के निबन्ध भाव प्रधान या बुद्धि प्रधान।

शुक्ल के निबन्धों की भाषा शैली।

निबन्ध परम्परा में कुबेरनाथ राय का स्थान।

कुबेरनाथ राय के निबन्धों की विशेषताएँ।

कुबेरनाथ राय के निबन्धों की भाषा शैली।

इकाई–चार

प्रभाववादी आलोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचना सिद्धान्त।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की कबीर विषयक स्थापनाएँ।

मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध।

मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्त।

मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया सम्बन्धी स्थापनाएँ।

प्रश्न पत्र का प्रारूप

कोर्स कोड HIN-303 के प्रश्नपत्र का प्रारूप इस प्रकार होगा

मुख्य परीक्षा (External Exam) **अंक = 80 समय = तीन घण्टा**

(क) इकाई एक में निर्धारित प्रत्येक पुस्तक में से एक–एक सप्रसंग व्याख्या पूछी जायेगी। विद्यार्थी को कोई तीन सप्रसंग व्याख्याएँ करनी होंगी। 6×3=18

(ख) शत–प्रतिशत विकल्प के साथ तीन दीर्घ उत्तरापेक्षी प्रश्न। 10×3=30

(ग) शत–प्रतिशत विकल्प के साथ तीन लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न। 6×3=18

(घ) शत–प्रतिशत विकल्प के साथ तीन अति लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न। 3×3=9

(ङ) पाँच वस्तुनिष्ठ विकल्परहित प्रश्न पूछे जायेंगे। 1×5=5

विषय सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	निबंध : अर्थ और स्वरूप	5
2.	निबंध : विविध रूप	15
3.	आलोचना : अर्थ और स्वरूप	24
4.	आलोचना : विविध रूप	34
5.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएं	43
6.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध भाव प्रधान या बुद्धि प्रधान	58
7.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की भाषा शैली	72
8.	निबंध परम्परा में कुबेरनाथ राय का स्थान	87
9.	कुबेरनाथ राय के निबन्धों की विशेषताएँ	95
10.	कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा शैली	105
11.	प्रभाववादी आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी	114
12.	'आचार्य द्विवेदी के आलोचना सिद्धांत'	123
13.	'द्विवेदी की कबीर विषयक स्थापनाएं'	134
14.	मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध	151
15.	मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्त	196
16.	मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया सम्बन्धी स्थापनाएँ	207

निबंध : अर्थ और स्वरूप

1.0 रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 निबंध : अर्थ और स्वरूप

1.4 सारांश

1.5 कठिन शब्द

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.7 पठनीय पुस्तकें/संदर्भ

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

1. निबंध का अर्थ समझ सकेंगे।
2. निबंध के बारे में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का मत जान सकेंगे।
3. निबंध के स्वरूप को समझ सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

निबंध एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के

साथ किया जाता है। निबंधकार निबंध में अपने व्यक्तित्व या निजीपन को केन्द्र में रखकर विषय का प्रतिपादन करता है। निबंध में व्यक्तित्व प्रसार को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। व्यक्तित्व शैली का जितना उत्कृष्ट रूप निबंध में परिलक्षित होता है उतना गद्य–साहित्य के अन्य किसी रूप में नही। निबंध में लेखक का अपना व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिफलित हो जाता है, इसमें निहित वैचारिकता और आत्म प्रकाशन का गुण इसे प्रभावी और रोचक बनाता है। निबंध में काव्य सी रमणीयता, भावुकता एवं सरसता होती है, इसमें कहानी–सा विनोदपूर्ण रस होता है, नाटक की सी गतिशीलता, संवादात्मकता एवं प्रभावशाली संप्रेषण होता है।

1.3 निबंध : अर्थ और स्वरूप

निबंध अत्यंत परिष्कृत और प्रौढ़ गद्य का प्रतीक है। इसका शाब्दिक अर्थ है–'सूत्रों में आबद्ध गठी हुई रचना'।

निबंध शब्द हिंदी में तत्सम शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है। संस्कृत के 'बंध' धातु में 'नि' उपसर्ग और 'धञे' प्रत्यय के योग से निबंध शब्द निर्मित हुआ है। बृहत हिंदी कोश के अनुसार – "निबंध अर्थात 'पु (सः) बंधन। संलग्नता, संग्रह ग्रंथ, लेख, गीत, प्रतिबंध''। प्रामाणिक हिंदी कोश में रामचन्द्र वर्मा ने निबंध शब्द का अर्थ बताते हुए लिखा है कि 'निबंध अर्थात अच्छी तरह बांधने की क्रिया'। निबंध अर्थात बंधन। किसी विषय का वह सविस्तार विवेचन जिसमें उससे संबंध रखने वाले अनेक मतों, विचारों, गंतव्यों आदि का तुलनात्मक और पांडित्यपूर्ण विवेचन है। निबंध एक प्रकार का छोटा लेख जो विद्यार्थी अपनी लेखन शक्ति और विवेचन बुद्धि बढ़ाने के अभ्यास के रूप में लिखते हैं। इन सभी व्याख्याओं के अतिरिक्त भारतीय परंपरा में निबंध शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भागवत गीता में 'बांधने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। सातवीं शती के सुबंधु ने वासवदत्तार मंगलाचरण में ग्रंथ रचना के अर्थ में 'निबंध' शब्द का प्रयोग किया था। निबंध शब्द के विकास के बारे में गुलाबराय और हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि यह शब्द संस्कृत भाषा से विकसित हुआ है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबंध नाम का एक अलग साहित्यांग है। इन निबंधों में धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों की विवेचना है। विवेचना का ढंग यह है कि पहले पूर्व पक्ष में बहुत से प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जो लेखक के अभीष्ट सिद्धांत के प्रतिकूल पड़ते हैं। इस पूर्व पक्ष वाली शंकाओं का एक–एक करके उत्तर–पक्ष में जवाब दिया जाता है। सभी शंकाओं का समाधान हो जाने के बाद उत्तर–पक्ष के सिद्धांत की पुष्टि में कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। चूंकि इन ग्रंथों में प्रमाणों का निबंधन होता है इसलिए उन्हें निबंध कहते हैं।" किंतु यह प्राचीन रूप आधुनिक रूप में महत्वहीन है, क्योंकि प्राचीनों के जैसे शास्त्रीय खंडन–मंडन की दृष्टि आज लुप्त हो चुकी है। आज अन्य बहुत–सी बातों का निबंधन किया जाता है। निबंध शब्द तो भारतीय परंपरा से लिया गया है पर वह पर्याय बन गया

है ऐसे (essay) का। जिसका मूल अर्थ 'प्रयोग' होता है। फलतः निबंध की आत्मा का सारतत्व भी वही है जो अंग्रेजी के 'ऐसे' का है।

डॉ. वार्ष्णेय के शब्दों में – "निबंध–रचना केवल खड़ी बोली की विशेषता है। खड़ी बोली गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी और उसमें भी निबंध रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से निबंध हिन्दी साहित्य का नितांत आधुनिक रूप है।"

हिन्दी का निबंध शब्द अंग्रेजी के 'Essay ' शब्द फ्रेंच 'Essai' से बना है। Essai का अर्थ होता है –To attempt अर्थात प्रयास करना। 'Essay' में 'Essayist' अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है, अर्थात निबंध में 'निबंधकार' अपने सहज, स्वाभाविक रूप को पाठक के सामने प्रकट करता है।

कुछ विद्वान निबंध, प्रबंध और लेख – इन तीनों में कोई अन्तर नहीं मानते। पर निबंध, प्रबंध और लेख में स्पष्ट अन्तर है। प्रबंध में व्यक्तित्व उभरकर नहीं आता। लेखक परोक्ष रूप में रहकर अपनी ज्ञानचातुरी, दृष्टिसूक्ष्मता, प्रकाशन–पद्धति और भाषाशैली उपस्थित करता है। प्रबन्ध आकार में निबंध से दस–बीस गुणा बड़ा भी हो सकता है। उसमें निबंध की अपेक्षा विद्वता अधिक रहती है। निबंध में अनुभूति और विचार का प्राधान्य रहता है और प्रबंध में समाजशास्त्र, लोक संग्रह और पुस्तकीय ज्ञान का प्रबंध में प्रबंधकार अपने विषय में कुछ नहीं कहता परन्तु निबंधकार अपनी पसन्द–नापसन्द, आचार–विचार के सम्बन्ध में खुलकर पाठकों से विचार–विमर्श करता है।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी दोनों में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "जिस ग्रंथ में एक ही विषय के प्रतिपादनीय अनेक व्याख्याएं संगृहीत होती थीं उसे निबंध कहते थे। प्रबंध का क्षेत्र निबंधन की अपेक्षा अधिक व्यापक था। 'प्रबंध' में विभिन्न विषयों से संबंधित अनेक मत संगृहीत होते थे। शाब्दिक अर्थ के आधार पर 'कसावट' दोनों की विशेषता मानी जा सकती है।"

निबंध और प्रबंध की भांति निबंध और लेख में भी स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। 'लेख' को अंग्रेजी में 'Article' कहते हैं और पत्र, समाचार पत्र, विश्वकोश इत्यादि में पायी जाने वाली रचना, जो विषय का स्पष्ट और स्वतन्त्र निरुपण करती है 'लेख' कहलाती है। विषय का प्रतिपादन लेख की प्रधान विशेषता है। इसमें 'लेखक' की आत्माभिव्यक्ति का अभाव नहीं रहता, पर उसकी प्रधानता भी नहीं रहती, जबकि आत्माभिव्यक्ति निबंध का प्रधान लक्ष्य है। अतः निबंध और लेख दो भिन्न साहित्यिक विधाएं हैं।

निबंध की परिभाषाएं

निबंध विधा की शुरूआत फ्रांसीसी विद्वान मान्तेन द्वारा मानी जाती है। इनके निबंधों का संग्रह

1580 में दो खंडों में प्रकाशित हुआ था। मान्तेन की मूल अभिरूचि राजनीति और कानून में थी। यदि वह राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण कर गया होता तो निबंध नहीं लिख पाता, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। अंग्रेजी में निबंधों की दशा–दिशा मान्तेन के निबंधों की प्रेरणा से ही निर्धारित हुई। इन निबंधों में बताया गया है कि वह कोई कला या अध्ययन प्रस्तुत नहीं कर रहा, वरन् आपका ही चित्रण कर रहा है।" वस्तुतः निबंध कला का व्यक्तित्ववाद का सिद्धात इसी सूत्र से पनपा है।

निबंध शब्द इतना व्यापक है कि अभी तक इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी गई है जो सर्वमान्य हो अथवा जिसमें निबंध के सभी पक्षों का समावेश हो। फिर भी पाश्चात्य और हिन्दी विद्वानों ने निबंध की विभिन्न परिभाषाएं अपनी–अपनी समझ के अनुसार दी हैं। जिनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं –

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार निबंध की परिभाषाएं

यूरोप में निबंध–साहित्य का जनक प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार मानतेन (Montaigne) (1533–1592) ई. निबंध में आत्माभिव्यक्ति को सर्वाधिक महत्व देते हुए कहते हैं –'I am myself the subject of my book' अर्थात 'अपने निबंधों' का विषय स्वयं मैं हूँ। यह निबंध अपनी आत्मा को दूसरों तक पहुँचाने के प्रयत्न मात्र हैं। इनमें मेरे निजी विचार और कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई नूतन खोज नहीं। यह परिभाषा निबंध की दो विशेषताओं की ओर संकेत करती है 1. निबंध में निबंधकार स्वयं को अभिव्यक्त करता है तथा 2. यह पाठक से आत्मीयता स्थापित करता है, उसे शिक्षा या उपदेश नहीं देता।

डॉ. जॉनसन के शब्दों में "निबंध मन की उच्चश्रृंखल स्थिति की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। इसमें विचारों की सुव्यवस्था अथवा श्रृंखला का महत्व नहीं होता।''

एडीसन के अनुसार, ''निबंध में विचारधारा तरल और मिश्रित होती है, उसका प्रवाह कभी साधारण उपदेशात्मकता की ओर उन्मुख रहता, कभी वैयक्तिक आत्माभिव्यंजना की ओर।''

शिपल के मतानुसार, ''निबंध एक ऐसी गद्यात्मक रचना है,जिसकी लम्बाई कम होती है तथा विषय सीमित होता है''।

भारतीय विद्वानों के अनुसार निबंध की परिभाषाएं

आचार्य रामचंद्र शुक्ल – "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबंध गद्य की कसौटी है।" भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सर्वाधिक संभव है। एक जगह शुक्ल जी लिखते हैं – "आधुनिक एवं पाश्चात्य लक्षणों के आधार पर निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो।" व्यक्तिगत विशेषता का अर्थ यह नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचार की श्रृंखला

रखी ही न जाए या जानबूझ कर जगह–जगह से तोड़ दी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाए कि उसकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई संबंध सहेजे रखे अथवा भाषा सर्कस वालों की सी कसरते या हठयोगियों के से आसन कराए जाए जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय कुछ नहीं।

बाबू गुलाबराय निबंध को परिभाषित करते हुए कहते हैं – "निबंध उस गद्य रचना को कहना चाहिये जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सोष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।"

डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार – "निबंध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी विषय पर स्वच्छंदतापूर्ण परंतु एक सौष्ठव, संहिती। सजीवता और व्यक्तिगत प्रकाशन के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।

डॉ. जयनाथ नलिन के शब्दों में – "निबंध स्वाधीन चिंतन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।"

लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार, ''निबंध रचना केवल खड़ी बोली की विशेषता है। खड़ी बोली गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी और उसमें भी निबंध रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से 'निबंध' हिन्दी–साहित्य की नितांत आधुनिक विधा है।"

डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के अनुसार – "तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखने वाला गद्य रचना का वह प्रकार निबंध कहलाता है जिसमें किसी विषय अथवा विषयांश का लघु विस्तार में स्वच्छंदता एवं आत्मीयतापूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो जिसमें लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे।"

डॉ. श्री कृष्ण लाल – "भावों और विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य का प्रचलन हुआ, उसे निबंध साहित्य की संज्ञा दी गई।"

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं स्वरूप विश्लेषण से निबंध की सामान्य विशेषताएं सामने आती हैं।

(1) निबंध एक गद्य रचना है।

(2) इसका आकार संक्षिप्त होता है।

(3) किसी विषय का क्रमबद्ध, संगठित, तारतम्यपूर्ण विधान निबंध में रहता है।

(4) इसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। उसका निजी दृष्टिकोण, अनुभव, विचार तथा अनुभूतियां व्यक्त होती हैं।

(5) इसमें रोचकता और प्रवाह अनिवार्य रूप से रहना चाहिए अन्यथा निबंध एक नीरस रचना मात्र रह जाएगी।

(6) निबंध एक बुद्धिप्रधान तथा विचारोत्तेजक रचना है।

(7) प्रत्येक निबंधकार की एक शैली होती है। निबंधकार की दृष्टि में जगत और जीवन पर दार्शनिक छाप होती है। निबंध में ऐतिहासिकता, काव्यात्मकता, राजनीति आदि सभी गुणों के दर्शन होते हैं। इन सभी लक्षणों के बावजूद निबंध की 1 स्वतंत्र सत्ता भी होती है। निबंधकार के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना उसकी अनुभूति द्वारा होती है। निबंधों के लिए आज समास–व्यास, प्रभान्विति, अलंकार, चित्रात्मक, व्यंग्य–विनोंद प्रधान आदि शैलियों का प्रयोग होता है।

(8) निबंध के लिए अभिव्यक्ति की पूर्णता और प्रांजलता नितांत आवश्यक है।

निबंध का स्वरूप

मनुष्य आदिकाल से निरंतर विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है। इस विकास के साथ–साथ उसके सोचने–समझने की क्षमता भी विकसित हो रही है। सृजन मानव मस्तिष्क का एक अभिन्न पहलू है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य कहीं न कहीं सृजन में लीन रहता है। साहित्य, संगीत, कला, वास्तुकला, शिल्पकला आदि सब सृजन के ही प्रत्यक्ष अनेक रूप हैं। विद्वानों का मत है कि यदि कोई मनुष्य किसी भी एक सृजन कार्य में लीन है तो उसे निश्चय ही ईश्वर का वरदान प्राप्त है। साहित्य लेखन सृजन का ही माध्यम है। साहित्य अपने युग में हर समय प्रभावी रहा है। जिसके माध्यम से हम किसी भी समय की स्थितियों को जान सकते हैं। प्राचीन काल से आज तक साहित्य का स्वरूप निरंतर परिवर्तनशील होता रहा है। काव्य से लेकर गद्य तक की विधाओं में विविध प्रकार के बदलाव होते रहे हैं। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल विविध विधाओं में संपन्न रहा है। इस काल में काव्य और गद्य दोनों ही विधाएं प्रतिष्ठित हुई। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास के फलस्वरूप मुख्य रूप से जिन विधाओं का विकास हुआ उनमें नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवनी, निबंध और आलोचना आदि हैं। निबंध गद्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा है क्योंकि गद्य की छटा, शैली का चमत्कार, भाषा का अधिकार और व्यक्तित्व का निखार सर्वाधिक निबंध में देखने को मिलता है।

निबंध : तात्विक विवेचना

निबंध के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं :

1. **व्यक्ति सापेक्षता** – साहित्य की सभी विधाओं में कम–अधिक मात्रा में लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है। परन्तु निबंध में उसकी अन्विति सबसे अधिक होती है। व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक प्रकृत और दूसरा अर्जित। प्रकृत व्यक्तित्व जन्म से प्राप्त होता है। अर्जित वह होता है जिसे व्यक्ति अध्ययन, मनन, चिंतन द्वारा प्राप्त कर लेता है या बनाता है। मनुष्य कभी भी प्रकृत अवस्था में नहीं रहा। सदा उसने अपने स्वयं का परिष्कार किया है। अध्ययन, मनन, चिंतन के द्वारा अपने व्यक्तित्व को विशिष्ट बनाया है। निबंधों में भी दोनों प्रकार के व्यक्तियों का मिलाजुला रूप दिखाई देता है।

निबंध में निबंधकार की आत्माभिव्यक्ति सहज, सरल और स्वभाविक होती है। वह जीवन को खुली आंखों से देखता है, परखता है। अपने आस–पास के परिवेश का प्रभाव उस पर दिखाई देता है। निबंधकार अपने व्यक्तित्व के माध्यम से अपने समकालीन युग और परिस्थिति का अनुभूत चिंतन प्रस्तुत करता है। उसके निबंध में जीवन के प्रति जो गहरी संवेदना दिखाई देती है। वही उसका व्यक्तित्व होता है। निबंध में व्यक्तित्व की प्रमुखता को सभी विद्वानों ने मान्यता दी है। व्यक्तित्व की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है – "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत विशेषता हो।

2. **वैचारिकता** – गद्य की अन्य विधाओं कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, जीवनी आदि की अपेक्षा निबंध में बौद्धिकता की अधिक प्रधानता होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब निबंध को गद्य की कसौटी कहते हैं तो उनका अभिप्राय केवल निबंध की भाषा पर या उसकी सरसता पर न होकर उसकी वैचारिक गहराई पर अधिक होता है। मन को एकाग्र करके जब कोई निबंध लिखा जाता है तब वह विचारात्मक निबंध बन जाता है। विचारात्मक निबंध पाठक में केवल ज्ञान के प्रति जिज्ञासा ही जागृत नहीं करते बल्कि उसे अधिक परिष्कृत सरस, तीव्र और सहज बनाते हैं। यही कारण है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अधिकांश निबंध विश्लेषणात्मक शैली में लिखे हैं। उदाहरणार्थ उनके भय निबंध की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं –'भय की इस वासना का परिहार क्रमशः होता चलता है। ज्यों–ज्यों वह नाना रूपों में अभ्यस्थ होता जाता है, त्यों–त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार अपने ज्ञान बल, हृदय बल और शरीर बल की वृद्धि के साथ वह दुःख की छाया मानो हटाता चलता है। समस्त मनुष्य–जाति की सभ्यता के विकास का भी यही क्रम रहा है।'

3. **संक्षिप्तता** – आज के व्यस्त जीवन में व्यक्ति के पास समय की कमी के कारण स्वयं को समझने

का समय नहीं है ऐसी स्थिति में विस्तृत निबंधों को पढ़ने के लिए समय निकालना कठिन प्रतीत होता है। यही कारण है कि वर्तमान समय में संक्षिप्तता निबंध का अनिवार्य गुण बन जाता है। निबंध की सीमा उतनी ही होनी चाहिए जिसमें वह अपने विषय को सुचारू ढंग से प्रस्तुत कर सके। संक्षिप्तता को निबंध का महत्वपूर्ण तत्व मानते हुए बाबू गुलाबराय ने कहा है –"निबंध उस गद्य रचना को कहना चाहिये, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वछन्दता, सौष्ठव एवं सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

4. **स्वच्छन्दता** – साहित्य की सबसे अधिक स्वच्छन्द रचना निबंध है। निबंध का प्राण उसकी वैयक्तिकता है, और निबंध में स्वच्छन्दता इसी वैयक्तिकता के कारण आती है। निबंधकार की स्वच्छंदता ही निबंध में रोचकता और जीवंतता लाती है। वही उसे रसवादी बनाती है। स्वातंत्र्य का अर्थ जैसे स्वेच्छाचार नहीं होता उसी प्रकार स्वच्छन्दता का अर्थ निरर्थक भटकन नहीं है। वह उद्देश्यपूर्ण होगी तभी सार्थक होगी।

5. **भावात्मकता** – निबंध लेखन में बुद्धितत्व होने के साथ––साथ भावतत्व भी होना चाहिए। भाव–तत्व के अभाव में निबंध लेख बनकर रह जाता है। निबंध में विचार होते हैं, किंतु वे मस्तिष्क के शुष्क चिंतन पर ही आधारित नहीं होते, उनके पीछे हृदय की तरल रागात्मकता भी होती है। मनोवैज्ञानिकता तथा गीतात्मकता के कारण निबंधों में जिस सजीवता एवं सरसता के दर्शन होते हैं, वह भावात्मकता का ही परिणाम है। निबंध के भावात्मकता के विषय में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का कहना है – "निबंध में विचारों का प्रतिपादन करते हुए भी इसमें भावोत्तेजन की क्षमता होनी आवश्यक है। निबंध में भावोत्तेजना का यह गुण तभी आ सकता है, जबकि इसमें रचयिता के व्यक्तित्व का जीवित स्पर्श हो।"

1.4 सारांश

निबंध को गद्य की उत्कृष्ट रचना माना जाता है। हिन्दी साहित्य में विभिन्न विधाओं के लेखन के सापेक्ष यदि निबंध लेखन की बात करें तो यह एक प्राचीन विधा होने के साथ–साथ एक सार्वभौमिक विधा भी रही है। भाषा की प्रांजलता, सौष्ठव, तथा तर्कसंगत विचार श्रृंखला का निर्देशन हमे निबंध साहित्य में उपलब्ध होता है। निबंध की रचना प्रकृति इस तरह की होती है कि हमें उसकी गहराई में उतरने पर ही अर्थग्रहण होता है। यह एक ऐसी विधा है जिसमें व्यक्ति अपने स्वतंत्र, निजीपन, अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण का प्रतिपादन अपने निजी ढंग से कर सकता है। अपने कथन का तर्क, परस्पर संवाद का समन्वय करते हुए लेखक अपने व्यक्तित्व का प्रभाव पाठक के मन पर डाल सकता है। निबंध में एक साथ समाज, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, आदि विषयों का समावेश संभव है। स्वछंदता, आत्मनिष्ठता, वैचारिकता, भावात्मकता, तार्किकता, विषयनिष्ठता, कलात्मकता, संक्षिप्तता इसके प्रमुख तत्व हैं।

1.5 कठिन शब्द

विश्रृंखलता, लालित्य , प्रभावोत्पादक, तात्त्विक विवेचन, आत्माभिव्यक्ति, विश्लेषणात्मक, विवरणात्मक

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न–1 निबंध का अर्थ बताते हुए उसका तात्विक विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न–2 निबंध की परिभाषाएं देते हुए उसके स्वरूप पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न–3 निबंध लेखन का क्या महत्व है? स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.7 पठनीय पुस्तकें/संदर्भ

1. निबंध : सिद्धांत और प्रयोग – डॉ. हरिहर नाथ द्विवेदी
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य कोश – धीरेन्द्र वर्मा
4. काव्य के रूप – बाबू गुलाब राय
5. साहित्य सहचर – हजारी प्रसाद द्विवेदी
6. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – गणपतिचंद गुप्त

.....

निबंध : विविध रूप

2.0 रूपरेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 निबंध : विविध रूप

2.4 सारांश

2.5 कठिन शब्द

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.7 पठनीय पुस्तकें/संदर्भ

2.1 उद्देश्य

निबंध विधा का स्वरूप समझ सकेंगे।

निबंध के विविध रूपों को जान सकेंगे।

निबंध विधा के वर्गीकरण का आधार समझ सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

निबंध को गद्य की एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है। भाषा की प्रांजलता, सौष्ठव तथा तर्कसंगत विचार शृंखला का निर्देशन हमें निबंध साहित्य में मिलता है। निबंध की रचना प्रकृति ही इस प्रकार की होती है कि हमें उसकी गहराई में उतरने पर ही अर्थग्रहण हो पाता है। यह एक ऐसी विधा है जिसमें निबंधकार का

व्यक्तित्व प्रमुख होता है। वह स्वयं को पात्रों और घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। निबंधकार जितना विद्वान, बहुश्रुत और अनुभूति प्रवण होगा निबंध उतना ही रोचक,प्रभावशाली और श्रेष्ठ होगा।

2.3 निबंध : विविध रूप

निबंधो के वर्गीकरण के अनेक आधार हो सकते हैं। बाह्य और आंतरिक विविधता इसके मुख्य आधार हैं। वैसे भी विवेचन पद्धति, भाषा शैली, विषय वस्तु सभी निबंधों में समान नहीं हो सकते। व्यक्ति को प्रधान मानकर वर्गीकरण किया जाए तो व्यक्ति प्रधान और विषय प्रधान दो वर्ग हो सकते हैं। व्यक्ति प्रधान या वैयक्तिक निबंध में निजता पर ध्यान केन्द्रित रहता है। इस निजता को आत्माभिव्यंजकता या व्यक्ति प्रधानता भी कह सकते हैं। इसके अंतर्गत लेखक अपनी निजी वेदना, विफलता, हर्ष–विवाद, भाव–अभाव के साथ अपने को व्यक्त करना चाहता है। विषय–प्रधान निबंधों में अपने को अलग रखकर शेष संसार पर विचार किया जाता है। आचार्य शुक्ल निबंधों के दो प्रकार मानते हैं। मस्तिष्क की प्रधानता वाले विचारात्मक और हृदय की प्रधानता वाले भावात्मक। निबंध की बाह्य और आंतरिक विविधता के आधार पर इसका वर्गीकरण किया जा सकता है। बाह्य विविधता में विवेचन पद्धति, भाषा–शैली, वस्तु विषय आदि आते हैं और आंतरिक विविधता में विचार, भाव, अनुभूतियां, संवेदना आदि का समावेश रहता है। यूं तो निबंध के केन्द्र में व्यक्ति रहता है लेकिन मात्र व्यक्ति को निबंध के वर्गीकरण का आधार नहीं माना जा सकता। सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर निबंधों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

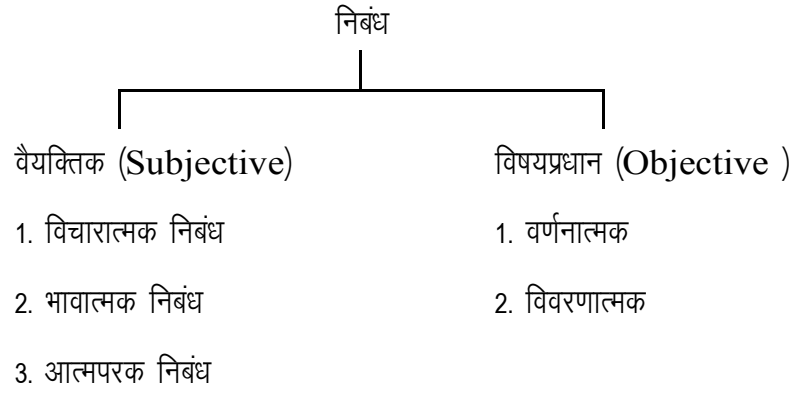

1. **विचारात्मक निबंध** – जिन निबंधों में बुद्धि की प्रधानता हो उन्हें विचारात्मक निबंध कहा जाता है। वैचारिक पक्ष की महत्ता के कारण इन निबंधों में तार्किकता रहती है। ऐसे निबंधों में लेखक के चिंतन मनन के साथ ही उसके दृष्टिकोण की नवीनता और विश्लेषण क्षमता का परिचय प्राप्त होता है। इन निबंधों में विषय की अनेक रूपता मिलती है। राजनीति, संस्कृति, समाज, परंपरा, नैतिक, साहित्य किसी भी विषय पर आधारित हो सकते हैं। डॉ. गणपति चंद्रगुप्त जी विचारात्मक निबंधों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि

"विचारात्मक निबंधों में किसी विचारधारा, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक समस्या अथवा किसी नवीन सदी का प्रतिपादन, विवेचन, विश्लेषण या स्पष्टीकरण होता है।" निबंध के विचारात्मक होने से यह अर्थ नहीं है कि उसमें भावों की अवहेलना होती है बल्कि इन निबंधों में भाव विचारों का अनुसरण करते हैं। आचार्य शुक्ल इसका समर्थन करते हुए कहते हैं – "इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले प्रदेश है। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहां हृदय थोड़ा बहुत रमता है। अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के क्रम का परिहार होता है। बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है। इसमें कल्पना, राग, बुद्धि एवं शैली सभी का सहयोग रहता है, भले ही बुद्धि प्रमुख हो और राग गौण।"

विचारात्मक निबंधों की भाषा सांकेतिक, श्लेषात्मक और संक्षिप्त होती है। प्रसाद शैली इसकी प्रमुख विशेषता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है – "शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष नहीं कहा जा सकता है जहां एक–एक पैराग्राफ में विचार दबाकर कसे गए हों और एक–एक वाक्य किसी सम्बन्ध विचार–खण्ड को लिये हो।"

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि के निबंध विचारातमक निबंधों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

2. **भावात्मक निबंध** – भावात्मक निबंधों में भाव तत्व और हृदय प्रधान रहता है। इन निबंधों में कल्पना के विशाल आकाश में हृदय की स्वछन्द उड़ान भावनाओं की तीव्रता के साथ देखने को मिलती है। हर्ष–विषाद, अनुरक्ति–विरक्ति हृदय के विविध उद्‌गार इन निबंधों में परिलक्षित होते हैं। भावावेग में जब कोई लेखक किसी घटना विशेष तथा अनुभव विशेष को कलात्मक रूप में अभिव्यक्ति करता है तब भावात्मक निबंध का जन्म होता है। अनुभूति की गहनता, भावों की तीव्रता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता, निश्छलता इन निबंधों की विशेषताएं हैं। डॉ. जयनाथ के शब्दों में "अपने भावों के प्रति एकांत एवं अडिग आस्था भी चाहिए। इसे किसी पागल का प्रलाप नहीं कहा जाए, यह एक भावुक स्वस्थ हृदय का आत्म निवेदन है। आत्म–निवेदन की पहली शर्त है – निश्छलता एवं ईमानदारी, यही आस्था और निश्छलता शैली को प्रवाह और भाषा को तरलता देती है। भाव और भाषा दोनों की तरलता से स्निग्धता और सरलता की कलियाँ खिलेंगी। तभी भावात्मक निबंध का अनुरोध सुना जाएगा। तभी पाठक उसमें लेखक और अपने आप को पा सकेगा। खो भी सकेगा यही स्थिति भाव लीनता की होगी।। तब निबंध में संगीत की मूर्छना भी आ जाएगी। इन सब गुणों से संपन्न रचना में ही हम भावात्मक निबंध का आदर्श पा सकेंगे।"

हिन्दी में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ. रघुवीर सिंह, गुलाबराय, माधव प्रसाद मिश्र, प्रतापनारायण मिश्र आदि भावात्मक निबंधकारों की श्रेणी में आते हैं। पूर्णसिंह के निबंधों में भावात्मक का चरम विकास देखा जा सकता है। उनके निबंध आचरण की सभ्यता में वे मौन की अभिव्यक्ति कुछ इस तरह कहते हैं "प्रेम की भाषा शब्द रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द रहित है। जीवन का तत्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण–प्रभाव, शील, अचल–स्थित–संयुक्त आचरण न तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न अंजील से, न कुरान से, न धर्म–चर्चा से न केवल सत्संग से।"

इसके अतिरिक्त शुक्ल के निबंधों में भाव और बुद्धि का सुन्दर समावेश देखने को मिलता है।

3. **आत्मपरक निबंध** – इन निबंधों में भावात्मक और विचारात्मक दोनों प्रकार के निबंधों की विशेषताएं विद्यमान रहती हैं। यह इतने वैयक्तिक और सशक्त होते हैं कि विचारात्मक निबंधों की तरह विचारों में डूबे हुए और भावात्मक निबंधों की तरह स्वछन्द और उन्मुक्त होते हैं। इन निबंधों में लेखक के निज में पाठकों को अपनी निजता का अनुभव होता है, क्योंकि इनमें लेखक अपनी सहज सरल भाषा में पाठक के साथ संवाद करता प्रतीत होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "निबंध मात्र अन्य सभी रचना प्रकारों की अपेक्षा व्यक्ति व्यंजक होता ही है, पर निबंध में भी विषय–प्रधान निबंध विषयी प्रधान की अपेक्षा अल्प वैयक्तिक होते हैं। किसी भी तत्व निर्णय के लिए इस रास्ते को अपनाना ही पड़ेगा। परन्तु साहित्य केवल तत्व–निर्णय से ही संतुष्ट नहीं होता, वह कुछ नया निर्माण भी करना चाहता है। कोई भी व्यक्ति केवल भावावेगों का गड्डर नहीं होता। वह वस्तु को देखते समय यथाशक्य निस्संग बुद्धि से उसके यथार्थ का भी निर्णय करता है। इसलिए वैयक्तिक या आसक्त भाव से उसका देखना वैज्ञानिक के देखने की क्रिया का विरोधी नहीं है, बल्कि उसी का भावावेग से सना हुआ कार्य है।"

विषय–प्रधान निबंध – इन निबंधों में निज को अलग रखकर विषय को अधिक महत्व दिया जाता है। निबंध की विषयवस्तु चाहे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक कुछ भी हो किंतु उत्तम निबंध उसे कहा जाएगा जिसकी प्रस्तुति अच्छी होगी। जब किसी विशेष विषय की शुष्क व वैचारिक विवेचना की जाती है तो वह निबंध न होकर लेख बनकर रह जाता है। दूसरी तरफ यदि लेखक किसी साधारण विषय पर लिखते समय अपने अनुभवों से उसमें मौलिक विचारों को जीवंतता प्रदान करता है तो सहज ही वह लेखन निबंध का रूप ले लेता है। विषयप्रधान निबंधों को हम दो भागों में बांट सकते हैं – 1. वर्णनात्मक निबंध 2. विवरणात्मक निबंध।

1. **वर्णनात्मक निबंध** – इन निबंधों में वर्णन को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। वर्णन के

अंतर्गत किसी एक पक्ष या किसी विषय के एक हिस्से का वर्णन नहीं किया जाता बल्कि निबंधकार अनुभूति, विचार, कल्पना और अभिव्यंजना कौशल के बल पर किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना से जुड़े सभी आयामों को पाठक के समक्ष उसका वर्णन करता है। वर्णन करने का यह अर्थ कदापि नहीं कि निबंधकार केवल एक पक्ष का वर्णन करता चले और दूसरे पक्ष की उपेक्षा करे। ऐसा वर्णन न तो स्वभाविक होता है और न ही सजीव। किसी भी वस्तु की सुंदरता को उभारने हेतु उसे भिन्न–भिन्न कोणों से देखना–परखना आवश्यक होता है। ठीक उसी तरह जैसे फूलों के साथ–साथ कांटो का वर्णन करना भी स्वाभाविक है। ऐसे स्वाभाविक वर्णन से ही पाठक को आनंद की अनुभूति होती है और विषय के साथ अपना तादात्मय बैठा पाता है।

वर्णनात्मक निबंधों में कल्पना तत्व प्रधान रहता है। कल्पना के माध्यम से जब कोई निबंधकार जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है तभी वह पाठक को रोमांचित और आनंदित करने में सफल होता है। इन निबंधों में विशेष रूप से यात्रा विवरण, वातावरण का चित्रण, नदी, पहाड़, वृक्ष, जंगल, त्यौहार, सभा–सम्मेलन, रहन–सहन, मेले, तमाशे आदि का वर्णन होता है।

वर्णनप्रधान निबंधों में लेखक का व्यक्तित्व अवश्य प्रकट होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि वह जीवन के कोमल और मोहक चित्र प्रस्तुत करता चले। उसकी लेखनी की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह प्रकृति के रोद्र, मनुष्य के अभावग्रस्त जीवन, मूल्य विघटन का वर्णन भी इतनी सशक्तता से करे कि पाठक को उसमें भी जीवंतता प्रतीत हो। उपेक्षित को कला का विषय बनाना कला का साध्य है और कलाकार की महानता भी।

वर्णनात्मक निबंधों में कल्पना के साथ–साथ भावात्मकता और रागात्मकता के तत्व भी विद्यमान रहते हैं। सरलता व सुबोधता इसकी शैली के प्रधान गुण हैं। लेकिन इन निबंधों में प्रसाद गुण आरम्भ से अंत तक बना रहता है और यही इसकी सफलता का कारण है।

हिन्दी निबंधकारों में बालकृष्ण भट्ट जी का 'मेला–ठेला', 'दरिद्र की गृहस्थी', द्विवेदी जी का 'प्रभात', माधव प्रसाद मिश्र का 'रामलीला' वर्णनात्मक निबंध के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

2. विवरणात्मक निबंध – विवरणात्मक निबंधों को आख्यानात्मक या कथात्मक निबंध भी कहा जाता है। इस प्रकार के निबंधों में किसी वृतांत, वस्तु,घटना से जुड़े विभिन्न विवरण दिए जाते हैं। विवरणात्मक निबंध कहलाते हैं। कथा प्रधान इन निबंधों में घटनाओं का सुसंबंध विवेचन होता है। वर्णनात्मक निबंधों में जहां स्थानगत वर्णन रहता है और अधिकांश क्रियाहीन वस्तुओं का चित्रण रहता है वहीं दूसरी ओर विवरणात्मक निबंधों में कलागत और क्रियाशीलता का चित्रण रहता है। कथात्मकता इसकी मुख्य विशेषता है। इन निबंधों में व्यंजनापूर्ण भाषा तथा सामासिक शैली का प्रयोग मिलता है। राहुल सांकृत्यायन, रामधारी सिंह

'दिनकर', गुलाब राय आदि लेखक ने इस प्रकार के निबंध लिखे हैं। गुलाबराय के निबंध 'आत्म विश्लेषण' से एक उदाहरण इस प्रकार है "तुलसीदास की भांति न तो मैं कभी छाछ को ललचाता रहा न बड़े होने पर सौंधे दूध की मलाई को नखरे और नाराजगी से खाया–'छाछी को ललात जे ते राम नाम के प्रसाद, खाद खुनसात सौंधे दूध की मलाई है।' मैंने दूध का हर एक रूप में स्वागत किया है (सपरेटा को छोड़ कर)। दूध मैंने गरम ही पीना चाहा है। असावधानी मेरा जन्मगत दोष है, क्योंकि बसंत से एक दिन पूर्व ही मैं इस संसार में आया, किंतु मैं उससे (दूध से) जला नहीं हूँ, इसलिए छाछ को फूंक–फूंक कर पीने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवन में पर्याप्त लापरवाही रही।"

किसी भी लेखक को वर्णनात्मक निबंध लेखन की अपेक्षा कथात्मकता युक्त विवरणात्मक निबंध लेखन में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कल्पना और अनुभूति के माध्यम से लेखक क्रियाशील व्यक्तियों के अन्तः बाह्य कार्य व्यापारों को पकड़ने में जितना अधिक सफल होगा उसे उतना ही अधिक विवरणात्मक लेखन में सफलता प्राप्त होगी।

जीवनी, यात्रा–वृतांत, शिकार, युद्ध, पर्वतारोहण आदि विषय से संबंधित निबंध विवरणात्मक निबंधों की कोटि में आते हैं। ऐतिहासिक, साहित्यिक, पौराणिक तथा धार्मिक सभी तरह के विद्वान–महापुरुषों के जीवन विवरण इन निबंधों के माध्यम से सामने आए।

घटनात्मक विवरणों में ऐतिहासिक, अलौकिक तथा सामान्य घटनाओं का वर्णन मिलता है। भारतेंदु का – "एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', सितारे हिन्द का – 'राजा भोज का सपना' आदि इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में विवरणात्मक निबंध लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, वासुदेव शरण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, पं. श्रीराम शर्मा, राधाचरण गोस्वामी आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

ललित निबंध

हिन्दी साहित्य में निबंध का नवीन रूप ललित निबंध के रूप में प्रचलित है। ललित विशेषण जोड़कर जब निबंध का विशिष्ठ रूप हमारे सामने आता है तो सबसे पहले 'ललित' शब्द हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। वास्तव में ललित शब्द का अर्थ है ललित का भाव अर्थात सुन्दर, मोहक, आकर्षक और रुचिकारक। लालित्य तत्व एक प्रकार से सौंदर्य तत्व ही है। लालित्य शब्द से कई अर्थ प्रकट होते हैं। मनुष्य की इच्छा शक्ति जब सर्जनात्मक रूप ग्रहण करती है तो भारतीय शास्त्र में उसे विश्व–व्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति 'ललिता' का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है। ललिता ही वह शक्ति है जो मनुष्य को नयी रचनाओं के लिए प्रेरित करती है। अतः परंपरागृहीत अर्थ में "मानव रचित सौन्दर्य को लालित्य कहना समीचीन प्रतीत होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस संदर्भ में कहते हैं "मनुष्य का सौन्दर्य रचना के

मूल में उसके चित के लालित्य भाव ही हैं इसलिए लालित्य को उस सौन्दर्य का माना जा सकता है, जो मनुष्य के लालित्य भावों की अभिव्यक्ति करता है।" पाश्चात्य विद्वानों में व्यक्ति–चित की इच्छा को ही लालित्य या सौन्दर्य का मुख्य हेतु माना है।

लालित्य का संबंधं भावप्रवणता से है। इस लालित्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ. रामरतन भटनागर लिखते हैं "गद्य और पद्य दोनों में ही ललित साहित्य की सृष्टि भव शर्त है लालित्य अर्थात् सौन्दर्य–निष्ठा। ललित साहित्य में उस वृति की प्रधानता रहती है जिसे भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में 'कीडनायक' कहा है विश्रांतिजनन अथवा विनोदकरण, ललित साहित्य के अन्य हेतु कहे गये हैं। यह निश्चित है कि ललित साहित्य में कलात्मकता, सौंदर्यत्व, कल्पना–विकास, भावना–परिष्कार आदि का महत्व अधिक है।"

ललित निबंध व्यापक अर्थ में मुक्त विधा है। इसमें चिंतन की स्वच्छंदता के साथ–साथ रचनाकार के 'मैं' से मुक्ति का संकेत है। ललित निबंधकार का 'मैं', 'हम' का सच्चा प्रतिनिधि होता है। उसमें 'मैं' की एकान्तिकता भी 'हम' की ही पर्याय होती है। ललित निबंधकार सौन्दर्य तत्व से ऐसा तादात्मय स्थापित कर लेता है कि उसका कुछ भी निजी नहीं रह जाता। उसका अनुभव समष्टि चेतना का अनुभव बनकर प्रकट होता है।

ललित निबंध का प्रतिपाद्य विषय चाहे जो हो, उसका प्रतिपादन निबंधकार के अहम् के माध्यम से होता है और इसलिए निबंध का सम्पूर्ण लालित्य रसात्मक चारुता, अनुरोचकता, आकर्षण उनकी शैली में है विषय वस्तु में नहीं। कल्पनाशीलता, शैलीगत स्वच्छंदता, भावात्मकता, मन की उन्मुक्त भटकन तारतम्यपूर्ण कथन, क्रमबद्धता, कलापूर्ण काव्यात्मक गद्य शैली आदि ललित निबंध की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

चिंतन और आत्मीयता के साथ संवेदनशील अभिव्यक्ति ही ललित निबंध की पहचान है। शब्द, अर्थ, भाव और विचार सभी स्तरों पर लालित्य का संयोजन करने वाले निबंध ही ललित निबंध हैं। एक सजग और कुशल निबंधकार की तरह ललित निबंधकार प्रत्येक शब्द को सजा–संवारकर अपने विशेष सांस्कृतिक बोध के अनुरूप अपने भावों और विचारों को संप्रेषित करता है। ललित निबंध बुद्धि को सोचने के लिए, मन को अनुभव करने के लिए बाध्य करते हैं। आधुनिक युग के प्रसिद्ध निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ललित निबंधों के माध्यम से सर्जनात्मक साहित्य की सरसता एवं सौंदर्य को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके 'अशोक के फूल' निबंध दृष्टव्य है "दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है जितने में उसका स्वार्थ सधता है बाकि को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक ने उसका स्वार्थ नहीं साधा। क्यों उसे वह याद रखती? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।" ललित निबंधकारों

में हजारी प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, सरदार पूर्णसिंह, प्रभाकर माचवे, सच्चिदानंद वात्स्यायन, 'अज्ञेय', माखनलाल चतुर्वेदी, कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

2.4 सारांश

कहा जा सकता है कि निबंध गद्य की महत्वपूर्ण विधा है। निबंध विधा आये दिन अपने रूप में नया निखार लाने के लिए प्रयत्नशील है। निबंध में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है एक सफल तथा समर्थ निबंधकार कवि, दार्शनिक, नेता, इतिहासकार सभी के गुणों को अपने निबंधों में समाहित कर लेता है। यही इसकी सजीवता और सरलता का जीवंत प्रमाण है।

2.5 कठिन शब्द

विशृंखला, भावाकर्षक, श्लेषात्मक, अनुरक्ति, भावावेग, समावेश, उन्मुक्त, आसक्ति, अभिव्यंजना, तादात्मय, अलौकिक, प्रांजलता

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र.1 निबंध के विभिन्न रूपों का विवेचन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र.2 निबंध के प्रकारों का विवेचन–विश्लेषण करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र.3 ललित निबंध से आप क्या समझते हैं? सविस्तार विवेचन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.7 उपयोगी पुस्तकें/संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. साहित्य विविधा – डॉ. रमेश चंद्र लवानिया
3. कालिदास की लालित्य योजना – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. दशष्टि अभिसार – कुबेरनाथ राय
5. काव्य के रूप – गुलाबराय
6. हिन्दी वांगमय : बीसवीं शती – डॉ. नगेन्द्र
7. निबंधकार अज्ञेय – डॉ. प्रभाकर मिश्र
8. गद्य की सत्ता – रामस्वरूप चतुर्वेदी

.....

आलोचना : अर्थ और स्वरूप

3.0 रूपरेखा

3.1 भूमिका

3.2 उद्‌देश्य

3.3 आलोचना का अर्थ

3.4 आलोचना के समक्ष चुनौतियाँ

3.5 आलोचक के गुण

3.6 आलोचक का दायित्व/धर्म

3.7 आलोचना का स्वरूप

3.7.1 विषय–बोध

3.7.2 व्याख्या–विश्लेषण

3.7.3 मूल्यांकन–निष्कर्ष

3.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

3.9 संदर्भ ग्रंथ/सहायक पुस्तकें

3.1 भूमिका

मानव की अनेक अन्य वृत्तियों अथवा संवेदनाओं की भांति आलोचना की प्रवृत्ति भी चिरकाल से सिद्ध है, किन्तु जीवन के व्यवहार–क्षेत्र की तुलना में साहित्य–क्षेत्र में इसका प्रवेश विलम्ब से हुआ। कारण स्पष्ट है–पहले सर्जनात्मक साहित्य अस्तित्व में आता है, और उसके

बाद आलोचना की प्रेरणा अथवा आवश्यकता का अनुभव किया जा सकता है। आरम्भ में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित थी कि 'आलोचना' का अर्थ कृति विशेष के गुण–दोष का विवेचन–मात्र है। व्युत्पत्ति द्वारा प्राप्त अर्थ से भी उक्त तात्पर्य में कोई बाधा नहीं है; इस कारण चिरकाल तक आलोचक किसी कृति के गुण–दोषों की ओर पाठक का ध्यान इंगित कर देना ही अपना मुख्य कर्म समझते रहे। किन्तु, अब हिन्दी–आलोचना का क्षेत्र इतना विस्तृत हो चुका है और उसमें इतनी विविधरूपिणी विधियों को प्रश्रय मिल चुका है कि 'आलोचना' अथवा उसके पर्यायवाची 'समीक्षा', 'समालोचना' प्रभृति शब्दों का अर्थ मात्र गुण–दोष विवेचन सिद्ध करना अनुचित होगा।

3.2 उद्देश्य

आलोचना का मूल अर्थ, व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से किसी भी वस्तु को सम्यक् एवं सम्पूर्ण रूप में विधिपूर्वक देखना है। आलोचना शब्द मानव की मूलभूत आकांक्षा एवं रागात्मक बौद्धिक प्रतिक्रिया से उद्भूत चिन्तन के रूप में ही नहीं बल्कि कलाकृति की व्याख्या के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। साहित्यालोचन केवल इसलिए ही नहीं है कि निन्दा या प्रशंसा ही करो बल्कि जो भी साहित्येतर तत्व आ गये हैं उनको निकाल कर बाहर भी किया जाना चाहिए। आलोचना के लिए आलोचक को एक निश्चित विचार–क्रम और शिल्प–बोध अपनाना होता है। इस प्रक्रिया से विद्यार्थी इस आलेख के माध्यम से परिचित हो सकेंगे।

3.3 आलोचना का अर्थ

आलोचना 'लोचन' शब्द से बना है। लोचन का स्वरूप तीन तरह का है–वह दृश्य बिम्ब का आधार है, वह स्वयं बिम्ब है, तथा दृश्य और दृष्टा के बीच का अंग विशेष है। आलोचना का सम्बन्ध लोचन से जोड़ा जाता है –'लुच' धतु में 'ल्यु' प्रत्यय लगाकर लोच बना फिर अन् जोड़कर लोचन शब्द का निर्माण हुआ। यह नेत्रवाची संज्ञा है। लोचन को मात्र दृश्य पदार्थ के मूर्त रूप तक ही सीमित न रखकर अमूर्त रूप में उसे आन्तरिक ज्ञान (प्रज्ञा) से भी युक्त किया गया। इसी लोचन में 'आड्.' उपसर्ग लगाकर आलोचना शब्द का निर्माण हुआ जिसका अभिप्राय है – अच्छी प्रकार से, भली–भांति देखना और परखना।

'आलोचना' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'सम्यक् निरीक्षण' है। किसी कृति की विशेषताओं पर विचार करना, उसकी उपलब्धियों एवं अभावों का मूल्यांकन करना, सहृदयों के हृदयों पर उसकी प्रतिक्रिया का विश्लेषण करना, उसकी श्रेष्ठता अथवा अभावों के विषय में निर्णय देना, उसे श्रेणीबद्ध करना आदि अनेक कार्य आलोचना के अन्तर्गत आते हैं। कृति–विशेष के रचयिता के

व्यक्तित्व के प्रकाश में जब आलोचक उपयुक्त व्याख्या–विश्लेषणपूर्वक उस स्तर की अन्य कृतियों में उसके स्थान और महत्त्व का निर्धारण करता है तब पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'आलोचना' की संज्ञा दी जाती है।

अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज़्म' शब्द के समानार्थक समालोचना, आलोचना, समीक्षा जैसे शब्द हिन्दी में व्यवहृत होते हैं। संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में तथा पश्चिमी आलोचना से प्रभावित होने के पूर्व के हिन्दी समीक्षा–साहित्य में इन शब्दों के प्रयोग प्रायः नहीं मिलते हैं। साहित्य के सिद्धान्त और मीमांसा के बोधक शब्द 'शास्त्र' अथवा काव्यशास्त्र का हिन्दी में प्रचलन अधिक रहा है। पश्चिमी आलोचना के प्रभाव के फलस्वरूप ही 'आलोचना', 'समालोचना' या 'समीक्षा' शब्द 'शास्त्र' के स्थान पर अधिक प्रयुक्त होने लगे। यद्यपि आलोचना या समीक्षा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ आलोचक की दृष्टि–विशेष का बोध करना मात्र है तथापि पश्चिमी समीक्षा शास्त्र में प्रयुक्त क्रिटिसिज़्म के समस्त अर्थों को ये शब्द अपने विस्तृत आयाम में आवृत्त कर लेते हैं। आलोचना का विस्तृत अर्थ डॉ. उदयभानु सिंह के शब्दों में, ''रचना के विषय के इतिहास, सौन्दर्य–सिद्धान्त, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण–दोष और रचनाकार की अन्तःवृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन'' माना जा सकता है।

3.4 आलोचना के समक्ष चुनौतियाँ

आलोचना ने दो खतरे निरन्तर झेले हैं पहला तो यह कि आलोचक मौलिक रचनाकारों के बीच कुछ विजातीय समझे जाते रहे हैं और दूसरा यह कि आलोचना का कार्य केवल किसी साहित्यिक विधा के स्थूल स्वरूप के वर्णन तक सीमित है। यह दोनों ही खतरे न केवल आलोचना में ही उभरे, इससे साहित्यिक विधा के वर्ग भी प्रभावित हुए। आलोचना को कभी कला की श्रेणी में रखा गया कभी विज्ञान की। आलोचना न कला है न विज्ञान या तो वह वैज्ञानिक कला है या कलात्मक विज्ञान है। आलोचना रचना को मापने का मापदण्ड नहीं वरन् उस मापदण्ड की क्रिया को करते–करते वह अपने लिए भी मापदण्ड की अपेक्षा करने लगती है। परिणामतः आलोचना की आलोचना शुरू हो जाती है।

आलोचना को लेकर एक कठिनाई और है। किसी भी साहित्य के पाठकों में आलोचना के पाठकों की संख्या सब से कम होती है। आलोचना का स्वरूप इससे ऊपर उठ ही नहीं पाया कि या तो वह खण्डन–मण्डन है या फिर निन्दा और प्रशंसा। फलतः पाठक सीधे मौलिक साहित्य को पढ़ कर अंगड़ाई लेकर आराम करने लगता है। यदि छात्र और अध्यापक आलोचना से अपना रिश्ता तोड़ लें तो यह संख्या और भी कम हो जायेगी। तर्क–वितर्क, वाद–विवाद से मस्तिष्क ठीक होता है परन्तु जड़ता और जिद के मानसिक दरवाजे नहीं लगे होने चाहिए। इस

तर्क–वितर्क, वाद–विवाद से आलोचना में रुचि पैदा हो। सिद्धान्त और साहित्य को लेकर खूब तर्क और विवाद हों परन्तु यदि आलोचना को अस्त्र बनाया जायेगा तो साहित्य की हत्या होने लगेगी। आलोचना अस्त्र उस साहित्य का हो सकती है जो अधार्मिक साहित्य है, अमानवीय साहित्य है। बुरे साहित्य को रोकने के लिए यदि आलोचना अनुशासन विहीन भी हो जाती है तो कोई अन्यथा बात नहीं है। आलोचना में जो एक प्रकार के रीति–रिवाज चल रहे हैं उनका ही मात्र कायल होना श्रेयस्कर नहीं है। आलोचना के लिए दिमागी परिवर्तन बहुत ही जरूरी चीज है।

3.5 आलोचक के गुण

आलोचक का सर्वप्रमुख गुण यह होना चाहिए कि वह आलोच्य कृति के प्रतिपाद्य को हृदयंगम करके अपनी संवेदनशील प्रकृति के अनुरूप कृतिकार के साथ तादात्म्य स्थापित करे। इसके लिए उसे व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों का त्याग करके पूर्णतः निःसंग भाव से समीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि लेखक की अनपेक्षित स्तुति तथा अमूलक निन्दा समान रूप से अशोभनीय हैं। कभी–कभी आलोचक अपनी विशिष्ट अभिरुचि के फलस्वरूप लेखक की धारणाओं से असमत रहकर न्याय नहीं कर पाता। इसका फल यह होता है कि लेखक के प्रति सहृदयता अथवा सहानुभूति के अभाव के कारण वह साहित्य के मर्म को उद्‌घाटित करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। संकीर्ण छिद्रान्वेषण की प्रकृति को प्रश्रय देना आलोचक का धर्म नहीं है।

साहित्य और आलोचना यदि एक सिक्के के दो पहलू हैं तो विवेक वह धातु है जिससे वह सिक्का निर्मित है। साहित्य में यह विवेक का रिश्ता कायम रहना चाहिए। यदि साहित्यकार की स्वानुभूति में आलोचक की स्वानुभूति का विलयन नहीं हो सकता तो साहित्य के सत्य मूल्य का आकलन न हो सकेगा।

आलोचना ज्ञान–चेतना का कर्म है। चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष का प्रज्ञाभाव आलोचना है तथा आलोचना ज्ञानात्मक आत्म प्रसार है। इस ज्ञानात्मक चेतना के साथ सौन्दर्यप्रियता तो हो ही परन्तु कौतुकप्रियता की भी धुरी उसके साथ संयुक्त रहनी चाहिए। आलोचक गुण, स्वभाव एवं कर्तव्य से न छिद्रान्वेषी है और न वह उस प्रकार न्याायाधीश है जहाँ हर व्यक्ति न्याय के लिए ही पुकार रहा है। युग सन्दर्भ में व्यक्ति के बदलते मूल्य और युग के प्रभाव और दबाव का आलोचक के ऊपर असर पड़ना चाहिए। पूर्वाग्रहों से जितना ही अलगाव, और भाषा की युगगत पकड़ तथा भावना जितनी अधिक उदार होगी आलोचना का कर्म उतना ही सात्विक और सार्थक होगा। आलोचना की कसौटियाँ पैनी और साफ होनी चाहिए। हृदय का वेग जितना ही खुलकर आलोचना के कर्म में प्रवृत्त होगा उतना ही आलोचना का धर्म श्रेयष्कर होगा।

3.6 आलोचक का दायित्व/धर्म

आलोचक का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य रचनाओं की भीड़ में से अच्छी रचनाओं को रेखांकित करना है। आज कागज और मुद्रण की सुलभता के कारण साहित्य के नाम पर ढेरों रचनायें प्रकाशित होती हैं। इनमें से अच्छी बुरी रचना के बीच अन्तर कर पाना सामान्य पाठक के लिए संभव नहीं है। कोई आलोचक जब किसी रचना को अच्छी या बुरी रचना कह रहा होता है तब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस रचना का मूल्यांकन कर रहा होता है। यदि यह मूल्यांकन रचना के विश्लेषण पर आधारित होता है तो ज्यादा सही, ज्यादा विश्वसनीय होता है। इसके विपरीत यदि यह मूल्यांकन आलोचक पर पड़े प्रभाव पर अथवा किन्हीं नियमों को जड़, यान्त्रिक रूप में लागू करने पर आधारित होता है तो इसके गलत और अविश्वसनीय होने की सम्भावना अधिक रहती है। मनुष्य की अभिरुचि, आवश्यकता और अपेक्षा युगानुसार बदलती रहती है। अतः आलोचक को मूल्यांकन करने के साथ पुनर्मूल्यांकन भी करना पड़ता है। किसी विशेष देशकाल में कुछ रचनायें बहुत महत्त्वपूर्ण रचनायें बन जाती हैं और कुछ रचनायें उपेक्षित रह जाती हैं।

रचनाओं की कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें होती हैं जो किसी विशेष प्रवृत्ति या वर्ग की प्रायः सभी रचनाओं में मिलती हैं, लेकिन इसके साथ ही हर रचना या रचनाकार का विशिष्ट व्यक्तित्व भी होता है। आलोचक को इन दोनों पर दृष्टि रखनी पड़ती है। आलोचक का एक कर्त्तव्य श्रेष्ठ रचना की कसौटी को भी निर्मित करना होता है। यह कसौटी कालजयी रचनाओं को कालजयिता प्रदान करने वाली विशेषताओं, आलोचक के अपने युग की मांगों और आलोचक के अपने विवेक से निर्मित होती है। ऐसी कसौटी हर आलोचक निर्मित नहीं कर पाता है, लेकिन हर आलोचक किसी–न–किसी कसौटी का उपयोग अवश्य करता है। यह कसौटी जितनी सुचिन्तित और सुनिश्चित होती है आलोचक अपने कर्त्तव्य में उतना ही सफल होता है। यदि आलोचक के लिए युग–प्रवाह के साथ तिनके की तरह बहना अहितकर है तो पत्थर की तरह स्थिर रहना भी अहितकर है। अच्छे आलोचक की विशेषता यह है कि उसमें दृढ़ता और नमनीयता का आवश्यक सन्तुलन हो। अच्छी रचनाओं को महत्त्व मिले, साहित्य जगत में अराजकता और मूल्यहीनता का बोलबाला न हो जाये, इसके लिए आवश्यक है कि आलोचक साहित्य आस्वादकों की अभिरुचि का निर्माण करे। जब किसी युग के आलोचक अपने इन सब कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तभी श्रेष्ठ आलोचना का जन्म होता है। आलोचना–कर्म वैसा ही महत्त्वपूर्ण है, जैसा रचना–कर्म; लेकिन वह रचना–कर्म की अपेक्षा अधिक दुष्कर है।

3.7 आलोचना का स्वरूप

आलोचना के लिए आलोचक को एक निश्चित विचार–क्रम और शिल्प–बोध अपनाना होता है। वह सर्वप्रथम आलोच्य कृति का अध्ययन करके उसमें निहित मूल को ग्रहण करता है और पुनः उसकी व्याख्या और विश्लेषण द्वारा उसके महत्त्व का मूल्यांकन करता है। इस प्रकार आलोचना के सोपान हैं – विषय–बोध, व्याख्या, विश्लेषण, मूल्यांकन और निष्कर्ष। इन विविध सोपानों को आलोचाना–पद्धति के अन्तर्गत मुख्यतः तीन चरणों में समझा जा रकता है– पहला विषय–बोध, दूसरा व्याख्या–विश्लेषण और तीसरा मूल्यांकन–निष्कर्ष।

3.7.1 विषय–बोध

आलोचक के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है कि उसे आलोच्य विषय का पूर्ण बोध हो। इस आधारभूत गुण के अभाव में निष्पक्ष आलोचना सम्भव ही नहीं है। केवल विषय–बोध ही पर्याप्त नहीं है वरन् कृति के अध्ययनोपरान्त उससे प्रभाव–ग्रहण की क्षमता भी आलोचक के लिए अनिवार्य है। उपयुक्त विषय–बोध के द्वारा कृति से प्रभावित होने पर ही वह उसकी विशेषताओं का उद्‌घाटन और मूल्यांकन कर सकेगा। यह पहला चरण आलोचक की अध्ययनशीलता, उसकी आयु, उसकी ग्राहक–क्षमता, बौद्धिक–कौशल एवं विवेक पर भी निर्भर करता है। इसी के साथ उसके लिए रचनाकार की मानसिकता, युगीन संदर्भों की पहचान, समसामयिक यथार्थ का ज्ञान होना भी जरूरी है।

3.7.2 व्याख्या–विश्लेषण

कृति से प्रभावित होने के उपरान्त उसकी प्रियता–अप्रियता के कारणों का विश्लेषण आलोचना का द्वितीय अवसान है। इसके लिए आलोचक को काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र का आश्रय लेना चाहिए। आलोचना करते समय आलोचक के सम्मुख चार तथ्य महत्वपूर्ण होते हैं – एक, रचना का बाह्याकार, दूसरा, उसमें निहित भाव, तीसरा, रचनाकार की मनःस्थिति जिसने आलोच्य रचना को जन्म दिया और अन्तिम है लेखक की समकालीन परिस्थितियाँ जिन्होंने लेखकीय मनःस्थिति का निर्माण किया। आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह आलोचना में इन सभी अंगों को उचित स्थान दे। काव्यशास्त्र के आधार पर कृति के रूप का विवेचन, सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर उसके भावगत सौन्दर्य का उद्‌घाटन, मनोविज्ञान के द्वारा लेखक की मनःस्थिति का विश्लेषण, समाजशास्त्र के आधार पर युगीन परिस्थितियों का वर्णन और लेखक पर उनके प्रभाव का विश्लेषण आलोचक का चरम लक्ष्य है। वस्तुतः साहित्य का मूल तत्त्व तो भाव है, किन्तु भावविशेष की प्रियता–अप्रियता लेखक और

उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यदि लेखक की परिस्थितियाँ विषम हैं तो उसके साहित्य पर उनका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। यदि आलोचक इस ओर ध्यान नहीं देता तो वह स्रष्टा के प्रति न्याय नहीं कर सकेगा।

3.7.3 मूल्यांकन–निष्कर्ष

व्याख्या–विश्लेषण के उपरान्त कृति को समग्रतः दृष्टि में रखते हुए उसके साहित्यिक महत्त्व का आलेखन आलोचना का अन्तिम चरण है। किन्तु, कुछ विद्वानों के मतानुसार आलोचक को निर्णय देने या निष्कर्ष स्थापित करने का अधिकार नहीं है; उसका कार्य तो कृति के सौन्दर्य का उद्‌घाटन मात्र है। किन्तु, वास्तव में हम देखते हैं कि जब आलोचक कृति से प्रभावित होता है तभी उसके मन में एक निश्चित धारणा बन जाती है, व्याख्या–विश्लेषण से तो उसकी तुष्टिमात्र होती है। अतएव कृति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते समय आलोचक प्रकारान्तर से उसके महत्त्व को भी निर्धारित कर देता है। इसके अतिरिक्त आलोचक का यह दायित्व है कि वह पाठक तथा रचनाकार का मार्गदर्शन करे; और इसके लिए निर्णय देना आवश्यक है। आलोचक को रचना–विशेष के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया अथवा निर्णय को स्पष्ट रूप में व्यक्त करना चाहिए अन्यथा साहित्य से अप्रिय तत्त्वों का निष्कासन सम्भव न हो सकेगा। किन्तु, प्रश्न यह है कि निर्णय की कसौटी कौन–सी हो ? इसके लिए चार मुख्य तत्त्व उल्लेखनीय हैं – आलोचक की व्यक्तिगत रुचि, नैतिक मूल्य, शास्त्रलब्ध ज्ञान तथा मानवता के शाश्वत मूल्यों में से किसी के भी आधार पर निर्णय दे सकता है। इस प्रकार निःसंग भाव से की गयी आलोचना और मूल रचना के एक साथ अनुशीलन से पाठक की बोध–वृत्ति तथा जनरुचि का निश्चय ही परिष्कार होगा, क्योंकि उसके माध्यम से सत्साहित्य का प्रसार तथा असत् साहित्य का बहिष्कार किया जाता है। वस्तुतः आलोचना पाठक को बौद्धिक सजगता प्रदान करके उसकी निर्णयात्मक शक्ति को प्रबुद्ध कराती है। फलतः कृति विशेष की सम्यक् समीक्षा से सहृदय को न केवल रस–ग्रहण में सुविधा रहती है, अपितु उसकी साहित्य विषयक जिज्ञासा भी बढ़ती है। उत्तम आलोचना से आलोच्य कृति के लेखक को भी उत्साह और शिक्षा की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि आलोचक रचनाकार के समकक्ष नहीं है, यह ठीक है; परन्तु लेखक उस पर काफी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है। फिर भी आलोचक महज़ व्याख्यता नहीं है। उसकी भूमिका कहीं अधिक सर्जनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नहीं है, किन्तु उसका कर्म भी अपने ढंग से सर्जनात्मक है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है – कवि अपने विषय का सृजन नहीं करता, पुनःसृजन ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक

भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुनःसृजन करता है। भेद केवल दो हैं। पहला भेद करण या साधन का है–अर्थात् कवि के साधनों में भावना और कल्पना प्रधान है, बुद्धि प्रायः संश्लेषण में ही सहायक होती है; जबकि आलोचक के कर्म में मूलतः भावना और कल्पना का सम्यक् उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सर्जना–शक्ति के बलाबल का है।

कवि जीवन का पुनःसृजन करता है और आलोचक काव्य का–अर्थात् जीवन के पुनःसृजन का पुनःसृजन करता है। कवि–कर्म में जहाँ बिम्बों के प्रयोग की प्रचुरता रहती है वहाँ आलोचना में इन बिम्बों की धारणा या प्रत्यय अधिक उपयोग में आते हैं। काव्य में ऐन्द्रिय–मानसिक बिम्ब प्रमुख रहते हैं जबकि आलोचना में मानसिक–प्रज्ञात्मक बिम्बों का आधिक्य रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि, कथाकार और आलोचक की सर्जन–क्षमता में मात्रा और साधन–उपकरण का ही भेद है, प्रकृति का भेद इतना नहीं है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीड़ा नहीं है, इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का वाग्विलास नहीं है। कविता, उपन्यास या नाटक की भाँति आलोचना में भी सर्जनात्मक दृष्टि परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय अनुभूतियों के माध्यम से तो आलोचक कवि की इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से निज की आत्माभिव्यक्ति करता है।

3.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

प्रश्न : (1) आलोचना का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न : (2) आलोचक के गुण और दायित्व बोध पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न : (3) आलोचक को किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न : (4) आलोचना का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न : (5) आलोचक और रचनाकार में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.9 संदर्भ ग्रंथ/सहायक पुस्तकें

हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी आलोचना : डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी

आलोचना की फिसलन : डॉ. ओमप्रकाश अवस्थी

हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ : डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त

आलोचना : प्रकृति और परिवेश : डॉ. तारकनाथ बाली

आलोचना : विविध रूप

4.0 रूपरेखा

4.1 भूमिका

4.2 उद्देश्य

4.3 सैद्धान्तिक आलोचना

4.4 व्यावहारिक आलोचना

4.4.1 निर्णयात्मक आलोचना

4.4.2 रचनात्मक आलोचना

4.4.3 व्याख्यात्मक आलोचना

4.4.3.1 शास्त्रीय आलोचना

4.4.3.2 मनोविश्लेषणात्मक आलोचना

4.4.3.3 ऐतिहासिक आलोचना

4.4.3.4 मार्क्सवादी आलोचना

4.4.3.5 चरितमूलक आलोचना

4.5 प्रभावात्मक आलोचना

4.6 प्रारूपात्मक आलोचना

4.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

4.8 संदर्भ ग्रंथ/सहायक पुस्तकें

4.1 भूमिका

आलोचना के रूप साहित्य की विकास–धारा पर अवलम्बित रहते हैं और इसीलिए युग की माँग के अनुरूप नवीन आलोचना–शैलियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। उदाहरणस्वरूप प्रभाववादी समीक्षा का उदय छायावादी कविता की पृष्ठभूमि में हुआ। मार्क्सवादी समीक्षा–पद्धति प्रगतिवादी साहित्य की देन है और नयी समीक्षा के मूल में नयी कविता, नयी कहानी आदि के आन्दोलन हैं। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि आलोचना के विविध रूप सिद्धान्तः भिन्न होने पर भी लक्ष्य की उपलब्धि की दृष्टि से अन्ततः एक ही वृत्त में आ मिलते हैं। उनमें तीव्र अन्तर्विरोध की प्रवृत्ति कम लक्षित होती है, सहयोग सूत्र ही अधिक उपेक्षित रहते हैं। जब जन–जीवन की प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओं के आधार पर साहित्य की व्याख्या की जाती है तो उसे सामाजिक आलोचना कहा जाता है। जब साहित्यकार के जीवन के आधार पर साहित्य का विश्लेषण किया जाता है तो उसे जीवन–चरितात्मक आलोचना कहते हैं। जब मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य पर स्पष्टीकरण किया जाता है तो उसे मनोवैज्ञानिक आलोचना कहा जाता है। जब काव्य को एक विशिष्ट रूप (फार्म) मानकर उसकी व्याख्या की जाती है तब उसे रूपात्मक आलोचना कहा जाता है, और जब जीवन के प्रारूपों (आर्किटाईप) के आधार पर साहित्य की व्याख्या की जाती है तो उसे प्रारूपतामक आलोचना कहा जाता है। सामाजिक आलोचना को सबसे पुराना और प्रारूपतामक आलोचना को सबसे नया रूप माना जा सकता है।

4.2 उद्देश्य

आरम्भ में काव्य या यों कहें कि साहित्य की व्याख्या के लिए प्रधान रूप से काव्यशास्त्र का ही सहारा लिया जाता था। किन्तु युग, जीवन और चिन्तन के विकास के साथ–साथ व्याख्या की नयी दृष्टियों का उन्मेष हुआ और साहित्य की विविध प्रकार की व्याख्याएँ सामने आने लगीं। इस आलेख के माध्यम से विद्यार्थी आलोचना के बहुआयामीय फलक से परिचित हो सकेंगे।

4.3 सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना द्वारा निर्धारित मानदण्ड युगीन परिस्थितियों और काव्य प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित होते रहने चाहिए, अन्यथा उनके आधार पर की गयी आलोचना दोषपूर्ण हो जाती है। उदाहरण के लिए आधुनिक साहित्य की आलोचना करने के लिए यदि रीतिकालीन आलोचना–मानों का कसौटी के रूप में प्रयोग किया जाये तो इससे निश्चय ही वर्तमान साहित्य

के प्रति न्याय नहीं हो पायेगा। स्पष्टतः सैद्धान्तिक आलोचना की श्रेष्ठता सर्जनात्मक साहित्य की श्रेष्ठता पर आश्रित है, क्योंकि उत्कृष्ट साहित्य की रचना के पश्चात् ही उसकी आलोचना के मानदण्ड निर्धारित किये जाते हैं।

आलोचना की इस प्रणाली के अन्तर्गत सैद्धान्तिक आलोचना द्वारा निश्चित किये गये सिद्धान्तों की कसौटी पर कृति–विशेष अथवा साहित्य की प्रवृत्ति–विशेष का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है। साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तीन तत्त्वों – प्रभाव ग्रहण, व्याख्या तथा निर्णय – के आधार पर इस आलोचना के तीन भेद किये जा सकते हैं– प्रभावात्मक आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचना। इन आलोचना प्रणालियों की अपनी–अपनी आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें कहीं–कहीं एकरूपता भी लक्षित होती है। इन प्रवृत्तियों तथा सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत प्रस्थापित सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर व्यावहारिक आलोचना में सर्जनात्मक साहित्य की विशेषताओं का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि व्यावहारिक आलोचना उसे कहते हैं जिसमें सिद्धान्तों का व्यवहार किया जाता है। 'सिद्धान्तों' से अभिप्राय केवल काव्य–सिद्धान्त से ही नहीं है वरन् अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों से भी है। जहाँ काव्य–सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य की व्याख्या या विवेचन का प्रयास होगा वहाँ व्यावहारिक आलोचना कही जायेगी। लेकिन काव्यशास्त्र के अतिरिक्त जहाँ अन्य शास्त्रों – समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य की व्याख्या की जायेगी उसे भी व्यावहारिक आलोचना कहा जाता है। जब तक कोई शास्त्र काव्य के किसी प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध विषय से संपृक्त नहीं होगा तब तक वह शास्त्र काव्य की व्याख्या के लिए उपयोगी नहीं होगा।

सैद्धान्तिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना के सम्बन्ध के बारे में यह ध्यान रखना चाहिए कि एक की प्रक्रिया काव्य से सिद्धान्त की ओर जाती है, दूसरी की प्रक्रिया सिद्धान्त के काव्य की ओर। सैद्धान्तिक आलोचना में काव्य के आधार पर सिद्धान्त का निर्धारण किया जाता है। व्यावहारिक आलोचना में सिद्धान्त के आधार पर काव्य की व्याख्या की जाती है या उस पर निर्णय दिया जाता है। इस प्रकार दोनों सम्बद्ध और परस्पर पूरक हैं।

जब काव्य पर सिद्धान्त का व्यवहार किया जाता है तो इस प्रयास के मूल में तीन लक्ष्य हो सकते हैं–एक, साहित्य के उत्कर्ष का निर्णय करना, दो, साहित्य की रचना–प्रक्रिया के आधार पर विवेच्य ग्रन्थ का पुनरुत्पादन करना, और तीन, काव्य–ग्रन्थ की व्याख्या करना। इन लक्ष्यों के आधार पर व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत प्रथम प्रकार की आलोचना को

निर्णयात्मक आलोचना, द्वितीय को रचनात्मक आलोचना और तृतीय को व्याख्यात्मक आलोचना कहा जा सकता है।

4.4.1 निर्णयात्मक आलोचना

इस आलोचना शैली के अन्तर्गत कवि अथवा रचना के अनुशीलन, मूल्यांकन और महत्त्व–निर्धारण का लक्ष्य अपनाया जाता है। इसके लिए आलोचक को उस युग के अन्य कवियों अथवा रचनाओं को भी दृष्टि में रखना होता है। इस दृष्टि से आलोचक की दृष्टि इस बात पर केन्द्रित रहती है कि आलोच्य कृति सहृदय पाठक और समाज का कहाँ तक पथ प्रदर्शन कर सकती है ? वह इस बात की भी खोज करता है कि युगविशेष का चित्रण करते समय कहीं लेखक ने उसके विविध मूल्यों को सीमित तो नहीं कर दिया है अथवा शाश्वत मानव–मूल्यों के समन्वय द्वारा उसे कहाँ तक सर्वयुगीन बनाया गया है ? 'सूर सूर तुलसी ससी, उड्गन केशवदास' जैसी उक्तियाँ निर्णयात्मक आलोचना के अन्तर्गत ही आती हैं। किसी भी वस्तु या कार्य पर निर्णय देने के लिए हमें किसी ऐसे आधार की आवश्यकता होती है जिसके आलोक में निर्णय दिया जा सके। साहित्य के महत्त्व का निर्णय करने के लिए भी हमें ऐसी कसौटी की अपेक्षा है।

4.4.2 रचनात्मक आलोचना

आलोचना जहाँ साहित्य की व्याख्या करती है वहाँ यह भी दिखाने का प्रयास करती है कि विवेच्य रचना का आदर्श रूप कैसा हो सकता था। दूसरे शब्दों में वह रचनाकार के समान ही रचना की उद्भावना करता है और उस अपने भाविक रूप को प्रस्तुत रचना के सभी दोषों तथा सीमाओं से मुक्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह आलोच्य रचना के समकक्ष उसी विषयवस्तु तथा आदर्श से संघटित एक रचना–रूप प्रस्तुत करता है जो उन आक्षेपों से मुक्त होता है जो आलोच्य रचना पर लगाये जाते हैं। इस रचनात्मक प्रक्रिया के कारण ही इस प्रकार की आलोचना को रचनात्मक आलोचना कहा जाता है।

4.4.3 व्याख्यात्मक आलोचना

आलोचना के इस रूप के अन्तर्गत आलोच्य कृति के अध्ययन–मनन के उपरान्त उसके भावगत और शैलीगत सौन्दर्य का तटस्थ भाव से उद्घाटन किया जाता है। इसमें आलोचक अपनी ओर से कोई निर्णय न देकर रचनागत प्रवित्तियों के अनुसंधान और व्याख्या–विश्लेषण की प्रवृत्ति अपनाता है। इस आलोचना–शैली में आलोचक की निजी प्रतिक्रियाओं को महत्व न देकर कृति के वैज्ञानिक परीक्षण पर बल दिया जाता है। इस प्रकार कवि के साथ भी पूरा न्याय होता

है और आलोचना भी अधिक विश्वसनीय तथा रोचक प्रतीत होती है। इस में समीक्षक की ओर से व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों को महत्व नहीं दिया जाता; और न ही इसमें आत्माभिव्यंजक समीक्षा–प्रणाली का आधार लिया जाता है।

रचनागत उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए व्याख्यात्मक आलोचना में काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और समाजशास्त्र से यथास्थान लाभ उठाया जाता है। इस आलोचना–पद्धति को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – एक : शास्त्रीय आलोचना, दो : मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, तीन : ऐतिहासिक आलोचना, चार : मार्क्सवादी आलोचना और पाँच : चरितमूलक आलोचना। आलोचना के ये सभी रूप, प्रवृत्तिगत विभिन्नताओं के होने पर, इस दृष्टि से एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित हैं कि इनमें काव्यशास्त्र आदि विद्याओं के कुछ विशेष सिद्धान्तों का निर्वाह होने पर भी रचनागत मूल्यों की खोज और उनके उपयुक्त विश्लेषण पर बल दिया जाता है। वस्तुतः व्याख्यात्मक आलोचना में न तो प्रभावात्मक समीक्षा की भाँति व्यक्तिगत अभिरुचि के आधार पर प्रभाव ग्रहण रहता है और न निर्णयात्मक आलोचना को तुलनामूलक शैली अपनायी जाती है। अनुसंधानपरक दृष्टि, पूर्वाग्रहमुक्त विश्लेषण, समीक्षा के प्रेरक सिद्धान्तों की विकासशीलता में आस्था, भेद–बुद्धि को प्रोत्साहन देने वाले तुलनात्मक मूल्यांकन में अनास्था– ये चार तत्त्व व्याख्यात्मक समीक्षा के मूल सोपान हैं।

4.4.3.1 शास्त्रीय आलोचना

शास्त्रीय आलोचना के अन्तर्गत आलोच्य कृति की विषयवस्तु और शैली को काव्यशास्त्र की कसौटी पर परखा जाता है। इस में रचनागत रस, भाव, अलंकार, भाषा, शैली आदि की दृष्टिकोण से व्याख्या पर बल रहता है। इस पद्धति में यह दोष है कि यह कृति अथवा कलाकार के वैशिष्ट्य की उपेक्षा करती है। इसमें कुछ पूर्व निर्धारित सामान्य नियमों की कसौटी लेकर सभी कृतियों को समान धरातल पर परखा जाता है। फलस्वरूप आलोचना में संवेदना की अपेक्षा जटिलता के समावेश की सम्भावना रहती है। अतः शास्त्रीय आलोचना को अत्यधिक नियमबद्ध और रूढ़ होने से बचना चाहिए।

4.4.3.2 मनोविश्लेषणात्मक आलोचना

इस आलोचना पद्धति का लक्ष्य लेखक के मनःस्तरों की खोज करना है। जिस प्रकार प्रभावात्मक आलोचना में आलोचक पर पड़ने वाले मनःप्रभाव का विश्लेषण रहता है, उसी प्रकार मनोविश्लेषणात्मक आलोचना में कृतिकार के मन की व्याख्या रहती है। इस समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत आलोचक द्वारा लेखक के व्यक्तित्व और परिवेश, लेखक की समकालीन

सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन किया जाता है और रचनागत विशेषताओं के मूल्यांकन के लिए समकालीन वातावरण का पृष्ठभूमि के रूप में आकलन किया जाता है। मनोविश्लेषणात्मक आलोचना में आलोचक लेखक की मानसिक क्रियाओं का विश्लेषण करते हुए उसकी मनःस्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। फ्रायड, एडलर और युग – इन तीन प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादियों ने क्रमशः दमित वासना की अभिव्यक्ति, हीन ग्रन्थियों से विमुक्ति और जिजीविषा अर्थात् जीवित रहने की तीव्र इच्छा को मानव की मूल प्रवृत्तियाँ मानने के साथ इन्हें साहित्य की मूल प्रेरणा भी स्वीकार किया है। आलोचक अपनी मान्यताओं के अनुसार इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के आधार पर कृति का विश्लेषण करता है और लेखक की मानसिक ग्रन्थि अथवा प्रक्रिया को पकड़ने की चेष्टा करता है। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी आलोचक यह मानकर चलता है कि काव्य में जिन भावनाओं को कवि ने अभिव्यक्ति दी है, उन्हें वह स्वयं यथार्थ जीवन में भोग चुका है। इसलिए आलोचक स्रष्टा कवि की व्यक्तिगत परिस्थितियों का अध्ययन–विश्लेषण करके उसकी रचनाओं में इनके प्रभाव को खोजने का प्रयत्न करता है।

4.4.3.3 ऐतिहासिक आलोचना

जब किसी कृति की आलोचना युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में की जाती है तब उसे ऐतिहासिक आलोचना की संज्ञा दी जाती है। इसमें कृति के मूल्यांकन के लिए काव्यशास्त्रीय मर्यादाओं को अलग न मानकर लेखक द्वारा युगधर्म के निर्वाह पर भी बल दिया जाता है। साहित्य की प्रवृत्ति विशेष में लेखक के योगदान का ऐतिहासिक विकास–क्रम के अनुसार विश्लेषण किया जाता है। इसके अन्तर्गत इस बात की खोज पर बल रहता है कि युग और साहित्य परस्पर किस रूप में सम्बन्धित हैं और एक–दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना में युगचेतना की पृष्ठभूमि को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है।

4.4.3.4 मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवादी समीक्षा ऐतिहासिक आलोचना का ही एक विकसित रूप है। मार्क्सवादी दर्शन में समस्त सामाजिक सम्बन्धों अथवा क्रिया–प्रक्रियाओं के मूल में अर्थ–व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवादी आलोचक केवल ऐसी रचनाओं को साहित्य मानता है जिनमें पूँजीवाद का सशक्त विरोध हो और श्रमिकों की समस्याओं के अतिरिक्त उनके परिश्रम, उल्लास और सामाजिक व्यवहार की अभिव्यक्ति हो। मार्क्सवादी आलोचक साहित्य में समाज को केवल साम्यवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने पर बल देते हैं, जिसके फलस्वरूप वे जीवन की अन्य उदात्त चेतनाओं की सराहना नहीं कर पाते। नैतिक आदर्शों,

अध्यात्म–दर्शन, जीवन के निष्पक्ष रसात्मक भावन आदि के प्रति उनके मन में सहज उपेक्षा रहती है, फलतः उनके दृष्टिकोण में व्यापकता नहीं आ पाती। वे साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते और सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही प्रगतिशीलता की कसौटी मानते हैं। इस एकांगी मनोवृत्ति में यदि समाजशास्त्रीय आधार पर प्राप्त निष्कर्षों का प्रभावात्मक समीक्षा और मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की विशेषताओं के अनुसार पुनर्मूल्यांकन कर लिया जाये तो मार्क्सवादी आलोचना का फलक विस्तृत हो सकता है।

4.4.3.5 चरितमूलक आलोचना

इस समीक्षा–पद्धति का एक ओर ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली से सम्बन्ध माना जाता है तो दूसरी ओर मुख्य रूप से मनोविश्लेषणात्मक आलोचना और सामान्य स्तर पर प्रभावात्मक आलोचना के प्रभाव–सूत्रों की खोज की जाती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इसे उक्त पद्धतियों की अंगभूत प्रवृत्ति न मानकर स्वतन्त्र ढंग से विकसित समीक्षा–रूप कहना ही उचित होगा। इसमें कृति की समीक्षा के पूर्व उसके लेखक के मानस–विश्लेषण पर बल दिया जाता है। इसके लिए एक ओर ऐतिहासिक आलोचना की पद्धति से लेखक पर युग–जीवन के प्रभावों की खोज की जाती है, दूसरी ओर मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति से रचनाकार की अन्तःप्रवृत्तियों को समझने का प्रयत्न किया जाता है और तीसरी ओर प्रभावात्मक समीक्षा–विधि से उसके व्यक्तित्व के प्रति भावुक दृष्टिकोण अपनाकर उसकी कृतियों से सामंजस्य स्थापित किया जाता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत लेखक के जीवन सन्दर्भ में उसकी अन्तर्वृत्तियों और विचारधारा के अध्ययन को प्रमुखता दी जाती है। रचनागत वातावरण और विचारधारा पर लेखक के व्यक्तित्व और जीवन–वृत्त का कहाँ तक प्रभाव है, इसकी खोजपूर्ण स्थापना करना इस समीक्षा पद्धति की मुख्य देन है।

4.5 प्रभावात्मक आलोचना

प्रभावात्मक समीक्षा मूलतः व्यक्तिनिष्ठ आलोचना है, जिसके अन्तर्गत उन प्रभावों का आकलन रहता है जो कृति विशेष के अध्ययन से आलोचक के मन पर अंकित होते है। इसके अन्तर्गत आलोचक रचना विशेष के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया को ही प्रमुख मानता है, शास्त्रीय आलोचना के उपादान यहाँ अपना महत्त्व खो बैठते हैं। इस प्रकार यह आलोचना–पद्धति जहाँ एक ओर अधिक स्वभाविक प्रतीत होती है वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति विशेष की रुचि की प्रधानता होने से इसमें पक्षपात की भी सम्भावना रहती है। वस्तुतः आलोचक की रुचियों पर उसकी आयु, संस्कारों तथा मनोदशा का आच्छादन रहता है। प्रभाववादी समीक्षक एक प्रकार से सर्जनात्मक साहित्यकार की भूमिका का निर्वाह करने लगता है जिससे उसकी रचना में

कलात्मकता आ जाती है। रचना को पढ़कर जो सहज–स्वच्छन्द प्रतिक्रिया होती है उसकी निर्बाध अभिव्यक्ति का नाम प्रभाववादी आलोचना है। यह आलोचना की स्वच्छन्द आत्माभिव्यक्ति है जिसकी रौ में प्रस्तुत रचना और रचनाकार के साथ आलोचक भी प्रमुख हो उठता है। इसलिए इसे एक स्वतन्त्र आलोचना–प्रकार माना गया है।

4.6 प्रारूपात्मक आलोचना

प्रारूपात्मक आलोचना अर्थात् आर्किटाइप क्रिटिसिज़्म में साहित्य में आयी हुई नयी घटनाओं को पुरा–कथाओं की पृष्ठभूमि में रखकर विश्लेषित किया जाता है। आलोचना के इस प्रकार के अन्तर्गत ऐतिहासिक–पौराणिक पात्रों, घटनाओं और संदर्भों पर केन्द्रित रचनाओं की नवीन दृष्टि एवं युगानुरूप अध्ययन कर निष्कर्षों की स्थापना की जाती है।

इस प्रकार युग की माँग, नये रचना विधान और बदलते शिल्प के अनुरूप नवीन आलोचना–शैलियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। परिणामतः आलोचना के नये मान और प्रकार स्थापित होते रहते हैं।

4.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

प्रश्न : (1) व्यावहारिक आलोचना को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न : (2) व्याख्यात्मक आलोचना के उपभेदों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न : (3) आलोचना के विविध रूपों की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.7 संदर्भ ग्रंथ/सहायक पुस्तकें

हिन्दी आलोचना : उद्‌भव और विकास : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी आलोचना : डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी

आलोचना की फिसलन : डॉ. ओमप्रकाश अवस्थी

हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ : डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त

आलोचना : प्रकृति और परिवेश : डॉ. तारकनाथ बाली

———————

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएं

5.0 रुपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 निबन्ध : अर्थ एवं स्वरूप

5.4 आचार्य शुक्ल के अनुसार निबन्ध की विशेषताएँ

5.5 निबन्ध की सामान्य विशेषताएँ

5.6 आचार्य शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएँ

5.7 सारांश

5.8 कठिन शब्द

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

5.1 उद्देश्य :

- निबन्ध के अर्थ एवं स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।
- निबन्ध की सामान्य विशेषताओं के विषय में जान सकेंगे।
- आचार्य शुक्ल के निबन्धों की विशेषताओं के साथ निबन्ध के सन्दर्भ में शुक्ल का दृष्टिकोण समझ सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना :

निबन्ध एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें निबंधकार अपने व्यक्तित्व या निजीपन को केन्द्र में रखकर विषय का प्रतिपादन करता है। लेखक के व्यक्तित्व का यह एक अभिन्न अंग है, इसलिए वैचारिकता और आत्माप्रकाशन का एक प्रभावशाली तथा रोचक माध्यम के रूप में निबन्ध को स्वीकार किया गया है। निबन्ध में काव्य की सी रमणीयता, भावुकता एवं समरसता होती है। कहानी का सा विनोदपूर्ण रस होता है, नाटक की सी गतिशीलता, संवादात्मकता एवं प्रभाविन्वति होती है। संस्मरण जैसी विवरणात्मकता, आर्कितका एवं विजता होती है। रेखाचित्र की सी चित्रात्मकता होती है और व्याख्या का प्रभाव, वकतृत्व की मर्यादा, तर्क का बल और पारस्परिक वार्तालाप का आनन्द भी विहित रहता है। फलस्वरूप निबन्ध को श्रृंगार कह सकते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की गद्य विधाओं में निबन्ध प्रमुख साहित्यिक विधा है। निबन्ध शब्द लैटिन भाषा के 'एग्नायर', फ्रेंच' के 'एसाइ' और अंग्रेजी के 'एसे' का पर्यायवाची है। निबन्ध का शाब्दिक अर्थ है 'बाँधना' अर्थात् किसी को बाँधना। प्राचीन काल में जब मुद्रण कला का आविष्कार नहीं हुआ था। अरण्यक ग्रन्थ लिखते हुए अथवा भोजपत्रों पर लिखे काव्य–महाकाव्य को आचार्य एक सूत्र या धागे से बाँध देते थे इस क्रिया को निबन्ध कहा जाता था। कालान्तर में यह 'निर्बन्ध' ही निबन्ध हो गया और इसका अर्थ हुआ किसी एक विषय से सम्बन्धित सामग्री को एक स्थान पर संग्रहित कर देना चूंकि निबंध एक विषय का सर्वांग निरूपण करता है। इस प्रकार आधुनिक युग में निबंध उस गद्य रचना के लिए रूढ़ हो गया जिसमें विचारों या विषय का तारतम्यपूर्ण विवेचन हो।

5.3 निबन्ध : अर्थ एवं स्वरूप

निबन्ध सम्बन्धी भारतीय और पश्चिमी धारणाएँ निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व स्वीकार करती हैं। इसमें निबंधकार के निजी विचार, विशिष्ट भाव और निजी शैली की विशिष्टता रहती है। पाश्चात्य विद्वान मौन्तेन के अनुसार, निबन्ध वह है जिसमें वैयक्तिक विचारों या अनुभूतियों को कलात्मक सूत्र में पिरो देने का प्रयत्न किया जाए'। इस परिभाषा के अनुसार निबन्ध व्यक्तिगत चिन्तन की कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। व्यक्तिगत चिन्तन का अर्थ है कि निबन्धकार का उद्देश्य किसी विषय पर दूसरों के विचारों और अनुभवों का संग्रह नहीं होता बल्कि वह अपने विचारों, अनुभवों, अनुभूतियों, कल्पनाओं, स्मृतियों आदि को कलात्मक और चित्रात्मक ढंग से स्पष्ट और सीधे रूप में प्रस्तुत करता है। भारतीय आचार्यों–विद्वानों ने भी निबन्ध सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए उसे परिभाषित करने की कोशिश की है। बाबू श्याम सुन्दर दास के अनुसार, 'निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक और पांडित्यपूर्वक विचार किया गया हो।'

शुक्ल जी ने निबन्ध को व्यवस्थित और मर्यादित विचार प्रदान गद्य रचना माना है जिसमें शैली की विशिष्टता और लेखक के निजी चिन्तन और अनुभवों की विशेषता के कारण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी रहती है। निबन्ध के संगठन और व्यवस्थित रूप पर बल देते हुए शुक्ल जी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहते हैं, 'आधुनिक पाश्चात्य लेखकों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला रखी ही नहीं जाए या जानबूझकर जगह–जगह से तोड़ दी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाए जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा में सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जाएं जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय और कुछ न हो।' जयनाथ नलिन 'हिन्दी निबन्धकार' में निबन्ध की परिभाषा देते हैं, 'निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्चित अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।' बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की विशेषताओं का समाहार करते हुए 'काव्य के रूप' में निबन्ध की अधिक व्यापक परिभाषा दी है, 'निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।'

कुछ विचारकों ने निबन्ध को 'गप्प', बातचीत' आदि कहा है किन्तु कुल मिलाकर निबन्ध एक गम्भीर विधा है। पश्चिमी विद्वानों जैसे डब्ल्यू ई. विलियम्स ने कहा है, 'अंग्रेज़ी निबन्ध एक गम्भीर साहित्यिक विधा है। निबन्धकार चाहे सामाजिक व्यवहार पर लिख रहा हो, या किसी पुस्तक पर, विज्ञान पर लिख रहा हो या राजनीति पर, हर हालत में उसका उद्देश्य पाठक का मनोरंजन मात्र करना नहीं होता, अपितु उसे संस्कारित करना होता है। हिन्दी के निबन्धकार भी निबन्ध की सोद्देश्यता से जुड़े हुए हैं। भारतेन्दु, रामविलास शर्मा से आगे डॉ. नगेन्द्र तक की परम्परा से यही प्रमाणित होता है कि हिन्दी निबन्धों का उद्देश्य मनोरंजन नहीं, समाज को संस्कारित और मनुष्य को उदात्त बनाना है। इन परिभाषाओं एवं स्वरूप निरूपण से निबन्ध की सामान्य विशेषताएं इंगित की जा सकती हैं:–

क) निबन्ध एक गद्य रचना है।

ख) यह एक छोटे आकार की पूर्ण रचना है।

ग) किसी विषय का क्रमबद्ध, संगठित, तारतम्यपूर्ण विधान निबन्ध में होता है।

घ) इसमें निबन्धकार के व्यक्तित्व का अंकन, उसके निजी दृष्टिकोण, निजी विचार श्रृंखला, निजी भाषा और अनुभूतियों के रूप में बिम्बित होता है।

ङ) निबन्ध सर्वाधिक विचारोत्तेज़क एवं बुद्धि प्रधान रचना है

च) शैली की रोचकता निबन्ध का अनिवार्य और महत्वपूर्ण अंग है।

इन सभी विशेषताओं का समाहार करते हुए डॉ. कृष्णदेव झारी निबन्ध को इस रूप में परिभाषित करते हैं, 'निबन्ध किसी एक विषय पर ऐसी नियमित सीमित आकार की किन्तु सुगठित स्वतः पूर्ण गद्य रचना है जिसमें लेखक के निजी विचारों–भावों की बुद्धि–प्रेरक योजना और सरल प्रभावी निजी शैली के कारण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा रहती है।'

5.4 आचार्य शुक्ल के अनुसार निबन्ध की विशेषताएँ

शुक्ल जी निबन्ध को साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं, 'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। उनकी दृष्टि में शैली की बात तो बाद में आती है पहले भाषा की शुद्धता और उसका समीचीन होना जरूरी है। 'शुक्ल के अनुसार 'वाक्य रचना की व्यवस्था, भाषा की शुद्धता और प्रयोगों की समीचीनता सर्वत्र आवश्यक है। जब तक ये बातें सध न जाएं तब तक लिखने का अधिकार ही न समझना चाहिए।' शुक्ल ने निबन्ध के लक्षण बताते हुए स्पष्ट किया कि कविता आदि निबन्धेतर साहित्य–रूपों में कल्पना–प्रसूत वस्तु की प्रधानता होती है और निबन्ध में विचार–प्रसूत प्रधान होती है लेकिन कल्पना–प्रसूत वस्तु गौण होती है इसके अतिरिक्त निबन्ध अर्थ प्रधान, व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थ के साथ मिला जुला होता है और हृदयगत भाव एवं प्रवृत्तियां उसमें झलकती हैं।

निबन्ध में लेखक के **व्यक्तित्व** को लेकर शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं, 'संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने–अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध – सूत्र एक दूसरे से नये हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर–उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।' एक ही वस्तु को भिन्न–भिन्न दृष्टियों से देखना ही व्यक्तिगत विशेषता है।

शुक्ल ने निबन्धों के **विषय–विस्तार** की कोई सीमा निर्धारित नहीं की। निबन्ध 'कुछ नहीं' अथवा 'शून्य' से लेकर विश्व की अनन्त छवि में आने वाली जितनी वस्तुएँ, क्रियाएँ, भाव हैं उन सब पर लिखे जा सकते हैं। निबन्ध चींटी से लेकर हाथी तक, रेत के कण से लेकर पर्वत तक, पानी की बूँद से लेकर सागर

तक, 'न कुछ' में से सर्वज्ञ तक अर्थात् लेखक की कल्पना में जितने विषय आ सकते हैं, वे सभी निबन्ध के विषय हो सकते हैं। शुक्ल की दृष्टि में मुख्य रूप से निबन्धों की तीन कोटियां हैं – विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध।

विचारात्मक निबन्धों में शुक्ल के अनुसार यह प्रयत्न होना चाहिए कि निबन्धकार के विचार और सिद्धान्त पाठकों के भी बन जाएँ। अतः ज़रूरी है कि सभी बातें बड़ी स्पष्टता और क्रमबद्धता के साथ निबन्ध में रखी जाएं। विचार श्रृंखला उखड़ी हुई नहीं हो और मुख्य बल विचारों के स्पष्टीकरण को लेकर होना चाहिए। इनमें भाषागत सफाई और सावधानी की ज़रूरत होती है क्योंकि अतिरिक्त शब्द और वाक्य प्रयोग विचारों को ढक देते हैं। इन निबन्धों में भाषागत चमत्कार, अलंकरण की गुंजाइश नहीं होती। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'में महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों पर विचार करते हुए उन्होने स्थापना की, शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, 'जहाँ एक–एक पैराग्राफ में विचार दबा–दबाकर कसे गए हों और एक–एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार–खण्ड के लिए हों।'

भावात्मक कोटि के निबन्धों से शुक्ल जी का आशय 'भाव' या 'मनोविकार' सम्बन्धी निबन्धों से नहीं बल्कि भावनाप्रधान शैली में लिखे गए निबन्धों से है। इस प्रकार के निबन्धों में निबन्धकार प्रेम, आह्लाद, हर्ष, करूणा, क्रोध, विस्मय अथवा अन्य प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करता है। इस श्रेणी के निबन्धों की भाषा विचारात्मक निबन्धों से भिन्न होती है क्योंकि भावों की प्रबलता के कारण कहीं–कहीं भाषा में असम्बद्धता, विश्रृंखलता और तीव्रता का आवेग आ जाता है। अलंकार और चमत्कार का अवसर भी बना रहता है। अतिश्योक्ति और अत्युक्ति की सम्भावना होती है। शुक्ल के अनुसार कहें तो वेदना की व्यंजना के अवसर पर अनन्त ज्वाला में जलने, पहाड़ के नीचे पिसने आदि की बातें कही जा सकती हैं।

वर्णनात्मक निबन्धों के विषय में शुक्ल जी के अनुसार निबन्धकार के दो उद्देश्य होते हैं– पहला, वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में पूरी जानकारी देना। दूसरा, वर्ण्य विषय के प्रति पाठकों में कौतुहल, विस्मय, प्रेम, करूणा, भय आदि भाव जगाना। मनोरंजन के साथ जब विषय के प्रति भाव भी जगाया जा सके तभी वह निबन्ध साहित्यिक कोटि में आएगा। वर्णनात्मक निबन्धों के वाक्य अपेक्षाकृत छोटे, भाषा सरल एवं सुबोध होती है। शब्दों की सजावट तथा अलंकार प्रयोग का पर्याप्त अवसर रहता है। भाषा भावानुगामिनी होती है।

कथात्मक निबन्धों के विषय में शुक्ल जी का कहना है कि वे किसी उपाख्यान, वृत्तान्त अथवा घटना को लेकर चलते है। विचारात्मक निबन्धों की भांति उनमें सुसम्बद्धता ज़रूरी है। कथात्मक निबन्धों में घटनाओं को एक–दूसरे के आगे–पीछे इस क्रम में रखना पड़ता है कि उलझन न हो और इस बात पर भी ध्यान देना होता है कि घटनाओं को जानने की पाठक में बराबर ललक और उत्सुकता बनी रहे। इन

निबन्धों की भाषा सरल रखनी पड़ती है क्योंकि भावों की व्यंजना यहाँ लक्ष्य नहीं होती। इनके अतिरिक्त निबन्धों की एक कोटि और बनाई जा सकती है, वह है व्यंग्यात्मक निबन्ध।

व्यंग्यात्मक निबन्धकार अपने समय और परिवेश की विभिन्न विरूपताओं, विसंगतियों को निबन्ध का विषय बनाता है। उपहास और क्रोध इन निबन्धों के स्थायी भाव हैं। उत्साह से भी इनका जुड़ाव है। करूणा को हम प्रेरणा अथवा बीज रूप मान सकते हैं। इनकी भाषा असंगतियों और भावों के अनुसार कभी सीधी, कभी वक्र, कभी चुटीली होती है। आवेगमय प्रवाह और ऊँची–नीची तरंगमयी गतियाँ यहाँ दिखाई पड़ती हैं। लक्षणा और व्यंजना अपने उत्कर्ष रूप को यहां प्राप्त करती हैं।

कथात्मक और घटनाप्रधान निबन्ध, निबन्ध जगत का अनिवार्य अंग कदापि नहीं हैं। निबन्ध स्वाभाविक रूप से गैर–कथात्मक लेकिन साहित्यिक रूप है। केवल घटना अथवा यात्रा का वर्णन मात्र से कोई लेख निबन्ध नहीं हो जाता लेकिन विवरण के साथ चित्रांकन पद्धति, उसके कारण, विश्लेषण, चिन्तन के माध्यम से निबन्धकार के व्यक्तित्व के आन्तरिक तत्त्वों से जुड़कर वह गद्य रचना एक निबन्ध का रूप ले लेगी। निबन्ध एक ऐसा **गैर–कथात्मक साहित्यिक रूप** है जहाँ लेखक और पाठक के बीच की दूरी सबसे कम होती है। यही कारण है कि निबन्ध, निबन्धकार के व्यक्तित्व का दर्पण होता है। इन सभी कोटियों के साथ निबन्ध को किसी वर्ग तक सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका स्वरूप लेखकीय व्यक्तित्व पर निर्भर करता है और व्यक्तित्व सभी का अलग–अलग होता है।

5.5 निबन्ध की सामान्य विशेषताएँ

एक विषय पर केन्द्रित होना निबन्ध की अनिवार्य शर्त है। ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय के अनुसार निबन्ध शिव के नदिया की भांति है जो पूरे कैलाश पर चक्कर लगाने के बावजूद शिव के पास ही लौटता है। इसी प्रकार निबन्धकार किसी एक विषय – सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, चरित्रात्मक, भावात्मक, घटनात्मक आदि पर अपनी लेखनी चलाता है किन्तु एक समय में विषय क्षेत्र एक ही रहता है। दूसरे वह विषय की परिधि में आने वाली बातों, तथ्यों को छूता है किन्तु बराबर (मूल वर्ण्य विषय) पर अपनी पकड़ बनाए रखता है। विषय का विस्तार निबन्ध के स्वरूप अनुसार होना चाहिए अर्थात् न तो प्रबन्ध जितना बड़ा और न किसी पुस्तक की भूमिका जितना छोटा हो।

निजी दृष्टिकोण निबन्ध का मूलाधार अर्थात् मेरूदण्ड है। इसका अभिप्राय है विचार, भावानुभूतियों, भाषा के प्रत्येक स्तर पर वैयक्तिक विचार एवं दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना। सम्पूर्ण निबन्ध में निबन्धकार का व्यक्तित्व, अपना विचार प्रकट होना चाहिए। इस विशेषता के कारण **विचार और बुद्धि तत्त्व** निबन्धों का सामान्य तत्त्व बन जाते है। कविता यदि भावों का विषय है तो निबन्ध विचार और बुद्धि पर आधारित है।

विचारों के साथ मौलिकता का प्रश्न जुड़ा हुआ है। विचार कहीं से सुने–सुनाए नहीं होने चाहिए बल्कि विचारों के साथ अर्थ संयोजन जरूरी है। निबन्धकार अपने चिन्तन–मनन से मौलिक विचारों की उद्‌भावना करते हुए पाठक की बुद्धि के कपाट भी खोलता चले। स्थायी महत्त्व की समस्याओं को लेकर उदात्त विचारों का प्रतिपादन होना चाहिए। विचार तत्त्व के साथ **भाव तत्त्व** निबन्ध का अनिवार्य अंग है। भाव से अभिप्राय है निबन्धकार वैयक्तिक रूचि–अरूचि, जीवन–जगत के प्रति अपनी रागात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हुए पाठक में भी संवेदना और भावों का प्रसार करे और पाठक–मन उदात्त भावों का आनन्द ले सकें। उदात्त भावों की रसानुभूति निबन्ध का अनिवार्य गुण है क्योंकि इससे सरसता आती है।

निबन्ध की एक **निश्चित रूपरेखा** होती है। निबन्ध के स्पष्टतः तीन भाग प्रस्तावना अथवा भूमिका, विषय प्रतिपादन और उपसंहार अथवा निष्कर्ष होते हैं। **प्रस्तावना अर्थात् भूमिका** का आयोजन निबन्ध के प्रारम्भिक एक दो अनुच्छेदों में होता है। विषय के साथ जुड़ाव और आकर्षण भूमिका को महत्त्वपूर्ण बनाता है। इसके पश्चात् छोटे–छोटे अनुच्छेदों में **विषय–प्रतिपादन** किया जाता है। इसके अन्तर्गत वर्ण्य विषय सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण बातें, आवश्यक तथ्य एवं आँकड़े आदि आ जाते हैं। यह ध्यान रखा जाता है कि अप्रामाणिक बातें और पुनरावृत्ति दोष नहीं आए। **उपसंहार, निष्कर्ष या अन्त** आम तौर पर अन्तिम अनुच्छेद में स्थान पाता है। विषय को समेटा जाता है और पाठकीय जिज्ञासाओं को शान्त करते हुए महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष की स्थापना की जाती है। इस प्रकार कोई भी निबन्ध पूर्णता को प्राप्त होता है।

गद्य शैली निबन्ध की वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो किसी भी निबन्धकार की पहचान कराती है, बेशक निबन्ध में लेखक का नाम नहीं हो लेकिन एक विशेष प्रकार की गद्य शैली की पहचान के कारण पाठक निबन्ध देखते ही पहचान सकता है कि अमुक निबन्ध किस निबन्धकार का है। शुक्ल जी की गुरु–गम्भीर शैली, हरिशंकर परसाई की व्यंग्यात्मक शैली, महादेवी वर्मा की वर्ण्य–विषय को साकार कर देने की शैली, मुक्तिबोध की कार्य–कारण परम्परा से जुड़ी शैली ये कुछ ऐसे मानदण्ड हैं कि विशिष्ट शैली, विशिष्ट लेखक के व्यक्तित्व और निबन्धों की पहचान का माध्यम बन चुकी है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के बावजूद निबन्ध की भाषा साहित्यिक होती है इस तथ्य पर निबन्धकार का बराबर ध्यान होता है। निबन्ध की सर्वस्वीकृत विशेषताओं के पश्चात् अब हम शुक्ल जी के निबन्धों का विवेचन करेंगे।

5.6 आचार्य शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएँ

शुक्ल के निबन्धों में हिन्दी निबन्ध साहित्य की सभी विशेषताओं का निदर्शन होता है। इनमें मूल रूप से विचार और विवेचन की शैली है। ये बौद्धिक मन्थन के परिणाम हैं। विचार विवेचन का अपना एक क्रम है। आरम्भ में शुक्ल प्रतिपाद्य विषय को नपी–तुली शब्दावली में प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्तुतीकरण कहीं

छोटी–सी तीन–चार पंक्तियों की भूमिका के साथ होता है तो कहीं सीधा विषय को परिभाषित करते हुए विषय को प्रस्तुत करने के बाद उसे अधिकाधिक स्पष्ट करना चाहते हैं। इस क्रम में वे विचार सूत्रों को फैलाते हैं। शुक्ल के निबन्ध मुख्यतः मनोभावों से सम्बद्ध हैं इसलिए विचार–सूत्रों का यह फैलाव मनोभाव विशेष की वर्गगत पहचान करते हुए, उससे सम्बद्ध उसी कोटि में अथवा उसके समकक्ष आने वाले अन्य मनोभावों की चर्चा करते हुए, उसकी समता–विषमता तथा सामाजिक जीवन में उनके महत्त्व के उल्लेख तक सीमित रहता है। विचार–सूत्रों को समेटते हुए वे एक बार फिर अपने मूल गंतव्य को संक्षेप में उपस्थित करते हैं। उनके निबन्ध का अन्त भी अपना एक अलग ढंग लिए होता है। किसी एक दृष्टि को आधार बनाकर अन्त किया जाता है।

शुक्ल के निबन्धों में विषय बोध

शुक्ल का ध्यान निबन्ध के विषय पर बराबर बना रहता है। निबन्ध विषय की लीक से हटता नहीं है। उसकी पहली पंक्ति लिखते हुए वे अंतिम पंक्ति को ध्यान में रखते हैं। विषय की परिभाषा देने के साथ–साथ वे वर्गीकरण, विश्लेषण, विवेचन करते हुए उदाहरण भी देते चलते हैं। विषय के सर्वांगीण पहलुओं पर एक साथ गति और पकड़ रखने का उदाहरण 'श्रद्धा–भक्ति' निबन्ध के प्रारम्भिक अनुच्छेद में देख सकते हैं। इस अनुच्छेद के छः वाक्यों का विषय बोध की दृष्टि से विश्लेषण करते हुए शुक्ल के निबन्धों में विषयगत प्रस्तुतिकरण को समझा जा सकता है। पहला वाक्य, 'किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते है।' दूसरा वाक्य, 'श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ–साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।' तीसरा वाक्य, 'यदि हमें निश्चय हो जायेगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी व बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का विषय हो जाएगा' चौथा वाक्य 'हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवायेंगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निन्दा न सह सकेंगे।' पाँचवां वाक्य, 'इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है।' छठा वाक्य, यही विश्व कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।' यहाँ पहले वाक्य में परिभाषा, दूसरे में उसका (श्रद्धा का) मूल्य, तीसरे में भाव की प्रतीति के कारण उदाहरण रूप में दिए गए हैं। चौथे में सम्बन्धित भाव की प्रतिक्रिया व्यक्ति में कैसे होती है इसका स्पष्टीकरण है। पाँचवें में चारों को समेटकर इस भाव (श्रद्धा) का सामाजिक मूल्यांकन हुआ है तथा छठे में इस (श्रद्धा) भाव की महत्ता अपने चरम मूल्य के रूप में व्यक्त हुई है। इस प्रकार छहों वाक्यों में आपस में अन्विति है। शुक्ल जी एक वाक्य को दूसरे से जोड़ते हुए निष्कर्ष की ओर बढ़ते हैं।

पाँचवें वाक्य में लिखा है, 'इससे सिद्ध होता है ....' अर्थात् इससे पूर्व के चारों वाक्यों का निष्कर्ष यहाँ दिया जा रहा है। निष्कर्ष है, 'जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है।' छठे वाक्य में पाँचवे को समेटा गया है और यह पूरे अनुच्छेद में अधिक प्राणवान् हो उठा है, 'यही विश्व कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।' इस पंक्ति में 'यही' शब्द महत्त्वपूर्ण है। 'यही' का उत्तर पाँचवे में है और पाँचवे की स्थापना उससे पीछे वाले वाक्यों में है।

इस प्रकार शुक्ल के निबन्धों में विषय का स्पष्ट बोध तो है ही साथ ही सर्वत्र अन्विति भी बनी हुई है। क्रम टूट जाए तो उनके निबन्ध को समझना कठिन है। इसी प्रकार के वाक्यों की तरह क्रम प्रत्येक अनुच्छेद में भी रहता है। जब तक पहला वाक्य समझ नहीं आ जाए, हम दूसरे तक नहीं पहुँच सकते इसीलिए उनके निबन्ध रुक–रुककर पढ़ने चाहिए।

विषय के साथ व्यक्ति केन्द्र में

विषय बोध से ऊपर उठकर शुक्ल के निबन्धों में व्यक्ति की पहचान होती है। उनका विषय अन्ततः व्यक्ति से ही जुड़ा होता है क्योंकि साहित्य के माध्यम से लोकमंगल में विश्वास करने वाले लेखक के लिए जरूरी हो जाता है कि वह व्यक्ति से दूर नहीं हो। शुक्ल जी का यह व्यक्ति लोक ही है। लोक अर्थात् समूह। अभी हमने जिस उदाहरण का विश्लेषण किया है उसे यदि ध्यान से देखें तो उसके केन्द्र में व्यक्ति ही है। व्यक्ति की पहचान के लिए शुक्ल के निर्णयात्मक कथनों को देखना चाहिए जैसे उपर्युक्त उदाहरण का छठा वाक्य, 'यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।' श्रद्धा है एक व्यक्ति विशेष के प्रति लेकिन उसका कारण यह है कि श्रद्धेय के गुण विश्वकामना (कल्याण) करने वाले हैं। इस प्रकार विषय के साथ व्यक्ति केन्द्र में है लेकिन शुक्ल में व्यक्ति–संकल्पना बड़ी व्यापक है इसका अभिप्राय समस्त विश्व अथवा लोक है।

विषय की परिभाषा

विषयगत परिभाषा के कारण निबन्ध साहित्य में शुक्ल का व्यक्तित्व प्रभावित करता है। मनोभावों सम्बन्धी निबन्धों में यह विशेषता खासतौर पर उभरी है। परिभाषा का शाब्दिक अर्थ है – स्पष्ट, संशयरहित कथन। किसी शब्द का इस प्रकार अर्थ करना जिससे उस शब्द विशेष के अर्थ की विशेषता और व्याप्ति पूर्ण रूप से निश्चित हो जाए। इस दृष्टि से शुक्लीय परिभाषाएँ बहुत सफल हैं। परिभाषा उनका केन्द्र बिन्दु है। इसी के आधार पर वे सम्बद्ध विषय का विवेचन, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि करते हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ इतनी रूढ़ हो चुकी हैं कि शुक्ल प्रदत्त परिभाषा को ही सर्वस्वीकृत किया जा सकता है, जैसे, 'नाना' विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार

अनुभूति के भिन्न–भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं अथवा 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' या श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' अथवा 'अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं। 'अथवा' जैसे दूसरे के दुःख को देखकर दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है, जिसे ईर्ष्या कहते हैं।' कविता की परिभाषा तो साहित्यशास्त्र में स्थापित हो ही चुकी है, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, हदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।' इन परिभाषाओं के निर्माण में भारतीय–पश्चिमी साहित्य परम्पराओं एवं कोशों तथा मनोविज्ञान का मौलिक ढंग से आश्रय लिया गया है।

विषय का वर्गीकरण

शुक्ल के प्रायः सभी निबन्धों में वर्गीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। विषय के विवेचन में भेद–उपभेद करना उनकी निजी विशेषता है। 'श्रद्धा–भक्ति' में वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है,' स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है 1. प्रतिभा–सम्बन्धिनी, 2. शील सम्बन्धिनी और 3. साधन सम्पति सम्बन्धिनी।' कहीं भेदों के भी उपभेद दिए गए हैं जैसे, 'स्थिति भेद से प्रिय या अच्छी लगने वाली वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है 1. प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा 2. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है। 1. इतने सम्पर्क की इच्छा जितनी और किसी की न हो। 2. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।' भेद–उपभेद की इस प्रवृत्ति से शुक्ल के निबन्ध विश्लेषणात्मक तो हो जाते हैं किन्तु जटिल भी बन पड़ते हैं।

विषय का विश्लेषण

शुक्ल के निबन्धों में विश्लेषण वह विशेषता है जिसके द्वारा वे मानव–मन की गहराइयों में जा पहुँचते हैं। किताबी मनोविज्ञान के साथ आदिम राग, आदिम वासनाओं (इच्छाओं) का परीक्षण और व्यवहार साहित्यिक विश्लेषण द्वारा करते हैं। एक ही समय में भाव विशेष के सजातीय अथवा विजातीय भाव का विश्लेषण अन्य किसी निबन्धकार ने नहीं किया है। 'श्रद्धा–भक्ति में ऐसे कई स्थल मिलते हैं, 'श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तीसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनुमान अन्य राम भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।' इस विश्लेषण पद्धति ने ही शुक्ल को विचारात्मक निबन्धों में अग्रणीय स्थान प्रदान किया है।

आत्माभिव्यक्ति

शुक्ल के व्यक्तित्व की छाप उनके निबन्धों में दिखाई देती है। भावों या मनोविकारों सम्बन्धी निबन्ध उनकी आत्माभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम बने हैं। व्यक्तिगत घटनाओं एवं प्रसंगों जैसे एक लखनवी दोस्त के साथ सांची जाना, एक ब्राह्मण देवता को अँगीठी जलाते देखना और काशी के बर्तन बेचने वाले दुकानदार के वार्तालाप की घटना – सभी के द्वारा उन्होंने अपनेपन की छाप निबन्धों पर छोड़ी है। व्यक्तिगत रूचि–अरूचि प्रकट करके जैसे पक्के राग गाने वालों पर फबती कसके, भारतीयों की कलासक्ति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करके तथा कहीं प्रकृत्ति–प्रेम और अतीत प्रेम दिखाकर भावात्मक प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित किया है। इस छाप के माध्यम से शुक्ल की रूचि–अरूचि, सामाजिक विचार, लोकादर्श आदि का बोध हो जाता है।

साहित्य के भावों की अभिव्यक्ति में उनके व्यक्तित्व का निदर्शन हुआ है। उदाहरण के लिए शील के सम्बन्ध में राम के शील का मोहक रूप 'सुनि सीतापति शील सुभाउ', भगवान के सामीप्य की बात पर रसखान के 'मानुष हों तो वही रसखान', प्रिय के सुख की चिन्ता के लिए सूर का 'संदेसो देवकी सों कहियो', 'ग्लानि' में भरत की ग्लानि का वर्णन आदि में शुक्ल का भाव वैशिष्ट्य मिलता है।

सामाजिक बुराइयों के प्रति **भावात्मक व्यंग्यात्मक** प्रतिक्रिया के रूप में वे 'श्रद्धा–भक्ति' निबन्ध में झूठे सार्वजनिक उद्योगपतियों और नकलचियों पर 'हितोपदेश के गधे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लो बाघ की बोली भी बोल लेते हैं' जैसी उक्तियां कही गई हैं। 'लोभ और प्रीति' में लोभियों पर फबती कसी गई है। **क्षात्र धर्म के प्रशंसक** रूप में उनके व्यक्तित्व की छाप 'लोभ और प्रीति' में देखी जा सकती है, 'जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा, तब तक इस पृथ्वी पर सुख–शान्ति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र धर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।' इस **क्षात्र धर्म** की प्रतिष्ठा शुक्ल के निबन्धों में लोकादर्शवाद के रूप में सर्वत्र हुई है।

शुक्ल जी के सन्दर्भ में समझना जरूरी है कि उनके निबन्धों में व्यक्तित्व की स्थापना अथवा आत्माभिव्यक्ति का अभिप्राय व्यक्तिवाद को प्रतिपादित करना नहीं है। इस अर्थ में वे व्यक्तिगत के विरोधी हैं। अतः आत्मकेन्द्रित, स्वार्थबद्ध राजनीतिज्ञों एवं धार्मिक उन्मादियों के उपदेशों की अवहेलना करते हैं। उनका प्रवृत्तिपरक सिद्धान्त वास्तव कर्म से बँधा हुआ है। इसी का प्रतिपादन अपने निबन्धों में भी करते हैं। इस क्रम में वे **प्रकृति से भी प्रेम** करते हैं जो कई अर्थों में हमें प्रेरित करती है। साँची के स्तूप देखने के प्रसंग में एक स्थल पर शुक्ल जी अपने लखनवी मित्र के साथ घूमते हुए आत्माभिव्यक्ति इस प्रकार करते हैं, 'मेरे मुँह से निकला – ''महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।'' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा, ''यहाँ महुए–सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।'' मैं चुप हो गया, समझ गया कि

महुए का नाम जानने से बाबूपन में बट्टा लगता है।' इस उदाहरण में शुक्ल जी के अन्तःकरण में व्याप्त गम्भीर, मार्मिक ग्रामीण एवं प्राकृतिक प्रेम की मानसिकता का पता चलता है। उनकी दृष्टि में देश प्रेम का प्रथम सोपान प्रकृति प्रेम है। उनके निबन्धों में आत्माभिव्यक्ति का अभिप्राय लोकमंगल, क्षात्र– धर्म की स्थापना, मर्यादावाद और संस्कृति को गौरवान्वित करना है। उनकी चिन्ता का मुख्य विषय व्यक्ति नहीं, लोक है।

भाषा का जीवंत प्रयोग

आचार्य शुक्ल निबन्धों के साथ भाषा के भी आचार्य हैं। उनकी गद्य भाषा विषयानुसार प्रेरित, परिवर्तित और संचालित होती है। 'उत्साह' और 'क्रोध' निबन्धों की भाषा' काव्य में लोक–मंगल की साधनावस्था' और 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' की भाषा से भिन्न है क्योंकि बाद के दोनों निबन्ध साहित्य शास्त्र से सम्बद्ध हैं अतः इनकी भाषा अपेक्षाकृत कठिन होना स्वाभाविक है। ग्रामीण से लेकर उर्दू, अंग्रेज़ी शब्द–प्रयोग को लेकर शुक्ल जी में कोई हिचकिचाहट नहीं। निबन्धों में व्यक्तित्व की छाप के कारण भाषा की अपेक्षा अभिव्यंजना शैली अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। दरअसल शैली ही निबन्धकार को वैशिष्ट्य प्रदान करती है।

अभिव्यंजना शैली

हिन्दी गद्य की अभिव्यंजना शक्ति को सशक्त बनाने वाले शुक्ल जी हैं। हास्य व्यंग्य, मुहावरों, लाक्षणिक प्रयोगों जैसी सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त गद्य से कविता का काम लिया गया है। दरअसल शुक्ल जी अर्थ ग्रहण को नहीं बल्कि बिम्ब ग्रहण को साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। अतः मूर्तिकरण उनके अभिव्यंजना पक्ष का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। इसी कारण उन्होंने स्वाभाविक अलंकरण के साथ शब्दों की नवीनता और स्वनिर्मित शब्दों का कोश सा बना डाला है। उनमें अर्थ गाम्भीर्य, भाषा की प्रौढ़ता के साथ एक विशेष प्रकार की शालीनता और प्रभाव उत्पन करने वाली शक्ति है। दूसरी ओर, विषयगत दुर्बोधता को उन्होंने हास्य–व्यंग्य, भावात्मक शैली के साथ निगमन, आगमन, समास, व्यास शैली के प्रयोग से संतुलित किया है। कार्य–कारण परम्परा के हिमायती शुक्ल जी उदाहरणों, उद्धरणों, तर्क–वितर्क, तुलना, निर्णय द्वारा अपने मत को प्रतिपादित करते हैं।

निगमन शैली में पहले अपनी बात को थोड़े शब्दों अर्थात् सूत्र रूप में कहते हैं फिर स्पष्टीकरण करते चलते हैं जब तक कि विश्वास वे स्वयं नहीं कर लें कि उनकी बात पाठक को समझ आ गई होगी। बाद में आगमन शैली की तरह 'सारांश यह है कि', 'तात्पर्य यह है कि', 'अन्त में कहा जा सकता है' आदि से निष्कर्ष देते हुए निबन्ध समाप्त करते हैं। इस सूत्र शैली के कारण अनेक गम्भीर सूक्तियों का निर्माण

हुआ है। ये उनकी अनुभवशीलता का परिणाम है, उनके जीवन का निचोड़ हैं। जैसे, 'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण', 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है' आदि मात्र वाक्य नहीं है बल्कि इनकी ध्वनियाँ हमें दूर तक प्रभावित करने वाली हैं। उनके निबन्धों में कथन का प्रारम्भ समास शैली में और उसका विवेचन व्यास शैली में होता है। निबन्धों में सारगर्भिता समास शैली से सम्भव हुई है। सूत्र रूप में समास शैली और विस्तार में व्यास शैली दोनों का व्यवहार उनके निबन्धों में हुआ है।

शुक्ल जी की विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक शैली अनेक शैलियों को समेटकर चली है। दृढ़ता, अथाह विश्वास, बल, गम्भीरता उनकी विवेचना शैली के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। दृढ़ता के उदाहरणस्वरूप 'कला कला के लिए वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर ज़िला नहीं कह सकते।' इस वाक्य में कितनी शक्ति, विश्वास और दृढ़ता का समावेश है। विषयानुरूप शैली निर्वाह की अपूर्व क्षमता शुक्ल में है। कहीं–कहीं तो एक ही शब्द जैसे चौबे जी, ब्राह्मण–देवता, याचक कवि, मर्कट–तुल्य, मत्स्य तुल्य आदि से व्यंग्य की छटा बिखर गई है। लेकिन छिछलापन, हलकापन कहीं नहीं है। शिष्ट, चटक, स्वस्थ और प्रेरक व्यंग्य की उद्‌भावना उनके निबन्धों का मूल है। शुक्ल में भावात्मक शैली भी कई रूपों में मिलती है। कवियों की भावुकता के प्रकाशन में तो उनका हृदय रमा ही है, आत्मोल्लास में भी वे हृदय के कपाट खोल देते हैं, वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है, वह भी परम पूज्य है।' क्षोभपूर्ण भावात्मक शैली जैसे 'कोरी साधुता का उपदेश पाखण्ड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है' में निदर्शन हुआ है।

5.7 सारांश

शुक्ल जी के निबन्धों के विषय में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी गद्य विधा का सर्वतोमुखी विकास इनमें देखा जा सकता है। उनके अनुकरण की कोशिश में ही अनेकानेक निबन्धकार प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं फिर भी उनकी क्षतिपूर्ति सम्भव नहीं हो सकी है। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में व्यक्तित्व व्यंजित विविधताओं के बावजूद वैज्ञानिक अनुशीलन और विवेचनात्मक प्रणाली से सम्बद्ध भाषा पद्धति के अभाव की पूर्ति शुक्ल में ही आकर पूरी हो सकी। काव्य की हमारे यहाँ एक बड़ी लम्बी, सुदृढ़ और सुविचारित परम्परा रही है जिसे आदिकाल से ही देखा जा सकता है। लगभग दो सहस्त्राब्दियों के काव्य–संस्कार के बीच गद्य और उसमें भी निबन्ध, जिसे कि पश्चिम की धरोहर माना जाता रहा– के माध्यम से साहित्य फलक को प्रभावित करना अपने आप में आशातीत उपलब्धि है। अतः शुक्ल जी का और उनके निबन्धों का वैशिष्ट्य सर्वविदित रूप में हिन्दी साहित्य की अनमोल धरोहर है।

5.8 कठिन शब्द

व्यंग्य, उद्‌भावना, साधारणीकरण, वैचित्र्यवाद, कलासक्ति, व्यापारोन्माद, सान्निध्य, प्रतिपादन, प्रस्तावना, विशृंखला।

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र1. शुक्ल के निबन्धों पर प्रकाश डालते हुए, विशेषताओं पर सविस्तार विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र2. निबन्ध का अर्थ एवं स्वरूप पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र3. निबंध की सामान्य विशेषताओं पर विचार करते हुए, शुक्ल के निबन्धों पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. साहित्य–अनुभूति और विवेचन – संसार चन्द्र
2. गद्य विधाएं – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. श्रेष्ठ निबन्ध – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – द्वारिका प्रसाद सक्सेना
5. हिन्दी साहित्य में निबन्ध और निबन्धकार – गंगा प्रसाद गुप्त
6. हिन्दी निबन्ध – गणपति चन्द्रगुप्त
7. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदयाल
8. सामाजिक हिन्दी निबन्ध – डॉ. ज्ञानेन्द्र वर्मा
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : निबन्ध यात्रा – डॉ. कृष्णदेव झारी
10. आचार्य शुक्ल – जयनाथ नलिन
11. रामचन्द्र शुक्ल – डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
12. निबन्ध : सिद्धान्त और प्रयोग – डॉ. हरिहर नाथ द्विवेदी

.....

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध भाव प्रधान या बुद्धि प्रधान

6.0 रुपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 शुक्ल के निबन्धों में भाव पक्ष

6.4 शुक्ल के निबन्धों में बुद्धि तत्व

6.5 सारांश

6.6 कठिन शब्द

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

6.1 उद्देश्य :

- विचारात्मक एवं भावात्मक निबन्ध का भेद जान सकेंगे।
- शुक्ल के निबन्ध भाव प्रधान है या बुद्धि प्रधान, यह जान सकेंगे।

6.2 प्रस्तावना :

निबन्ध में भावना के साथ विचारों को पिरोना, एक साथ बांधना, बुनना या संकलन करना आवश्यक है। विषय प्रतिपादन में एक निष्ठ भाव से चिंतन के लिए तर्कपूर्ण क्षामता का होना अनिवार्य होता है। जैसे शुक्ल के निबन्धों में गहन गम्भीरता, प्रौढ़ता, चिन्तन आदि बुद्धितत्व साहित्य का सामान्य तत्व है विचारात्मक निबन्धकार का भी कौशल इसी बात में है कि वह विचार–सूत्रों के बीच–बीच में अपनी

व्यक्तिगत रूचियों–अरूचियों, भावनाओं और जीवन तथा जगत के प्रति अपनी रागात्मक प्रतिक्रियाओं को इस प्रकार व्यक्त करता चले, जिससे पाठक का मन उदात भाव रस में आनन्द ले और लेखक के व्यक्तित्व का पूर्ण आभास पा सकें।

आचार्य शुक्ल के विचारात्मक एवं भावात्मक निबन्धों का समानान्तर व्यवहार इस प्रश्न को प्रारम्भ से ही जन्म देता है कि उनके निबन्ध भाव प्रधान हैं अथवा बुद्धि प्रधान। दूसरे शब्दों में कहें तो ये निबन्ध व्यक्ति प्रधान हैं अथवा विषय प्रधान। वास्तव में चिन्तामणि के 'निवेदन' में शुक्ल ने भूमिका रूप में बुद्धि एवं हृदय पक्ष को लेकर जो चर्चा की है उसी से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उन्होंने लिखा, 'इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा को निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा–बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि पथ पर अग्रसर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।' आगे वे लिखते हैं, 'इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान।' प्रत्येक रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व कम–अधिक मात्रा में समाविष्ट होता है। निबन्ध में दो प्रकार के तत्व संयोजित होते हैं एक विषयगत अर्थात् वस्तुगत और दूसरा व्यक्तिगत अर्थात् आत्मगत। विषय तत्व का अर्थ है विषय का यथार्थ विवेचन और इस विवरण में निबन्धकार के व्यक्तित्व से कोई अन्तर नहीं आता। व्यक्ति प्रधान से अभिप्राय है विषय और शैली के धरातल पर विषय बोध से बढ़कर निबन्धकार के निजी व्यक्तित्व का बोध होना।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में व्यक्ति प्रधान का अर्थ सामाजिक रूप में स्पष्ट किया है, व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसकी प्रदर्शनी के लिए विचारों की श्रृंखला रखी ही न जाए या जानबूझ कर जगह – जगह से तोड़ दी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाए जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जाएँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।' इस प्रकार शुक्ल के लिए विषय प्रधानता महत्त्वपूर्ण है।

प्रत्येक निबन्ध में थोड़ी बहुत मात्रा में बौद्धिकता और सहृदयता दोनों रहती हैं अर्थात् मस्तिष्क (विचार) पक्ष और हृदय (भाव) पक्ष विद्यमान होता है। बौद्धिकता अर्थात् मस्तिष्क पक्ष की प्रधानता होने पर निबन्ध विषय प्रधान होता है और भावुकता अर्थात् हृदय पक्ष की अधिकता पर व्यक्ति प्रधान बन जाता है। विचारात्मक निबन्ध विषय प्रधान और भावात्मक निबन्ध व्यक्ति प्रधान होते हैं। विषय प्रधान निबन्धों में विषय पर विवेचन क्रमबद्ध ढंग से होता है। विचारों की तर्कसंगत श्रृंखला शुरू से अन्त तक रहती है। शब्द चयन

सजगता के साथ और वाक्य कसे हुए होते हैं। व्यक्ति प्रधान निबन्धों में विचार शृंखला खण्डित हो जाती है और आत्मपरक रुचि–अरुचि के प्रसंग बीच में आ जाते हैं। शब्द सामान्य और वाक्य छोटे किन्तु भावप्रधान होते है।

शुक्ल जी के 'निवेदन' में अन्तर्यात्रा की रूपक योजना से निबन्धों में बुद्धि की प्रधानता स्पष्ट है। अन्तर्यात्रा का नेतृत्व बुद्धि ही करती है और हृदय उसका अनुगमन करता रहा है। बुद्धि की प्रधानता विषय की ही प्रधानता है क्योंकि बुद्धि की विशेषता और सार्थकता विषय के वस्तुगत विवेचन और विश्लेषण में ही प्रकट होती है। भाव पक्ष का अवलम्बन शुक्ल ने शैली के सन्दर्भ में विशेष रूप से लिया है क्योंकि निबन्ध की शैली रचनाकर के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। कुल मिलाकर भाव और बुद्धि पक्ष के इस पूरे विवेचन में पर्यायवाची के तौर कुछ शब्दों को रखना और समझना श्रेयस्कर है हालाँकि स्थूल रूप से भाव पक्ष और बुद्धिपक्ष ही व्यवहार में प्रचलित शब्द है। भाव पक्ष को हम भाव प्रधान, व्यक्ति प्रधान, आत्मगत, विषयीगत, निर्बन्ध निबन्ध अथवा सब्जेक्टिव (Subjective) कह सकते हैं। बुद्धि पक्ष को बुद्धि प्रधान, विषय प्रधान, वस्तुगत, विषयीगत, विचारात्मक, परिबन्ध निबन्ध अथवा ओबजेक्टिव (Objective) कह सकते हैं।

विषय प्रधान अथवा बुद्धि प्रधान निबन्धों में विषय की प्रधानता सर्वत्र रहती है। स्वयं लेखकीय व्यक्तित्व विषय के प्रतिपादन की ओर ध्यान केन्द्रित करता है। विषय प्रधान अथवा भाव प्रधान निबन्ध में निबन्धकार को आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता होती है। इस प्रकार का निबन्ध मानवीय और भावना प्रधान संवेदनाओं से परिपूर्ण होता है। इनमें बुद्धि तत्व कम और साहित्य के अन्य तीनों तत्वों कल्पना, भावना और शैली का आधिक्य होता है। पाठक सीधे रचनाकार के साथ निकटता महसूस करता है। इस दृष्टि से शुक्ल के निबन्ध विषय प्रधान अर्थात् बुद्धि प्रधान निबन्धों की कोटि में आते हैं। हालाँकि उनके निबन्धों में आत्माभिव्यक्ति एवं भावुकता का स्थान गौण नहीं है। विषय का विवेचन, अपना अध्ययन–मनन, चिन्तन और निष्कर्ष पाठकों के समक्ष उन्होंने प्रस्तुत किया है। उनकी स्वच्छन्द मनःस्थिति भी इन निबन्धों में मिलती है किन्तु वे विषय से भटकते नहीं है। उनके मौलिक विचार और विशिष्ट शैलीकार का व्यक्तित्व निबन्धों में हैं ज़रूर, किन्तु प्रवृत्ति, उद्देश्य और प्रतिपादन शैली आदि सभी दृष्टियों से विषय प्रधान, विचारपरक और बुद्धि प्रधान ही है। इतना होने पर भी यह सत्य है कि शुक्ल के पास एक आलोचक का मस्तिष्क और एक कवि का हृदय है जिसके रहते बुद्धि और भाव पक्ष तराजू के दो पलड़ों की भाँति उनके निबन्धों में बराबर दोलायमान रहते हैं।

6.3 शुक्ल के निबन्धों में भाव पक्ष

शुक्ल के निबन्धों की भाव प्रधानता बौद्धिक यात्रा के श्रम का परिहार करती है। उनके भावात्मक हृदय की प्रतिक्रिया और भावानुभूति उनके निबन्धों में व्यक्त होती रहती है। सामाजिक विषमता के प्रति

भावात्मक प्रतिक्रिया स्वरूप उनके हृदय की विभिन्न अवस्थाएँ जैसे भावुकता, क्षुब्धता, मुग्धता, उत्साह, उल्लास देखी जा सकती हैं। राम के कर्म सौन्दर्य में रसलीन स्थिति, प्रकृति और स्मृति में भावमग्न दशा, समाज के आडम्बरों से क्षुब्ध होने की अवस्था, कृत्रिम सभ्यता पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी उनके भावनामय हृदय को सामने लाती है।

सामाजिक विषमताओं के प्रति भावात्मक प्रतिक्रियाओं को शुक्ल ने घृणा के रूप में अभिव्यक्त किया है। विषमता के कारणों पर वे क्षोभ मिश्रित घृणा और विषमता फैलाने वाले लोगों पर व्यंग्य मिश्रित घृणा दिखाते हैं। 'भय' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने योरोप के व्यापारोन्माद के प्रति घृणा व्यक्त की क्योंकि इसके कारण मानव का शोषण हो रहा है। इसको पतला करके मोटा बनने वालों के प्रति क्षोभ जनित घृणा का रूप 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध में इस प्रकार सामने आता है, मोटे आदमियों! तुम जरा–सा दुबले हो जाते–अपने अन्देशों से सही–तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।' व्यक्तित्व के प्रकाशन के कारण हास्य व्यंग्ययुक्त घृणा का प्रयोग उन्होंने अधिक किया है। 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में लोभियों के जीवन की असंगति और बुराई पर हास्य व्यंग्यमयी घृणा से चोट की गई है, 'लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान–अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या ?' टका धर्म पर उनकी फ़ब्ती, नकली बाबुओं पर चुटकी, चौबेजी पर व्यंग्य आदि में भावात्मक प्रतिक्रियाओं को बल मिला है यहाँ तक कि कलाकार भी उनकी इस फ़ब्ती से बच नहीं पाए हैं। 'श्रद्धा–भक्ति' निबन्ध में पक्का संगीतज्ञ उनके कटाक्ष का विषय बना है, 'संगीत के दांव–पेंच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ' 'आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े–बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है – दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े–बडे आलसियों का आसन डिग जाता है।' इस प्रकार उनकी घृणा वास्तव में वीभत्स रस के अर्थ में नहीं है बल्कि किसी भी प्रकार की असंगति अथवा विसंगति से क्षोभ, दया, हास्य आदि रूप में व्यक्त होती है।

शुक्ल जी का हृदय यदि असमानता, असंगति में चीत्कार कर उठता है तो दूसरी ओर सुन्दर रमणीक दृश्य, **साहित्यिक प्रसंगों में भावमग्न** भी हो जाता है। जहाँ भी अवसर मिलता है वे साहित्य–भावात्मक प्रसंगों को उद्धृत करते हैं। 'लोभ और प्रीति निबन्धों में इनकी भरमार है। याचक और दाता–दोनों के लोभ की भर्त्सना वे रहीम के दोहे से करते हैं, 'रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं। उनतें पहिले वे मुए जिन मुँह निकसत नाहिं।।' प्रेम की उच्च दशा का उदाहरण वे सूर की गोपियों से देते हैं। कहीं फाग (होली) खेलती नायिका की उक्ति पद्माकर से उद्धृत करते हैं, 'नैंन नचाय कहीं मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी'। दूसरी ओर रसखान की भगवद् भक्ति के उदाहरण रूप में प्रसिद्ध सवैये

को प्रस्तुत करते हैं। 'मानुष हो तो वहि रसखानि बसै जो गोकुल धाम के द्वारे'। साथ–साथ तुलसीदास के भक्तिपूर्ण पदों, सूरदास की सरस पदावली, देव–मतिराम की रस धारा में तल्लीन होते हैं। इसीलिए नवरस उनके निबन्धों में शृंगार, करूणा, प्रेम, लज्जा, लोभ, शोक, हास आदि मनोभावों के रूप में प्राप्त होते हैं। साहित्यिक उक्तियों को अपनाने के क्षेत्र में उन्होंने पोप की पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद 'कविता क्या है' निबन्ध में किया है। 'त्रिवेणी' में सूर, तुलसी और जायसी की टिप्पणियों में उनकी भावसबलता को आसानी से देखा जा सकता है।

कविता को नर क्षेत्र, नरेतर और समस्त चराचर जगत् से जोड़ने वाले शुक्ल के लिए **प्रकृति प्रेम और प्राकृतिक रूप छवियों से अनुराग** स्वाभाविक है। प्राकृतिक सान्निध्य के ऐसे स्थलों पर बुद्धि एक तरफ छूट जाती है और भावों का तीव्र आवेग आलोड़ित हो उठता है। 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध इस दृष्टि से प्रशंसनीय है, 'यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम–घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरी से लदी हुई अमराइयों और तट पर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण–भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया', यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि दीन–दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उचित पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया? इस विश्व काव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए प्रकृति से प्रेरणा का काम लेने का उत्साह शुक्ल जी में इतना अधिक है कि निबन्ध में भी स्वरचित पद्यात्मक पंक्तियों का लोभ संवरण नहीं कर पाये हैं। बन्दर के माध्यम से मनुष्य की स्वार्थपरता को खण्डित करने की प्रेरणा देते हुए इसी निबन्ध में कहते हैं:

देते हैं घुड़की यह अर्थ–ओज–भरी हरि
''जीने का हमारा अधिकार क्या न रह गया ?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे नर!
क्रीड़ामय जीवन उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी पास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जाएँ कहाँ, तू ही कह!''

प्रकृति प्रेम के अभाव में शुक्ल राष्ट्र प्रेम को सम्भव नहीं मानते। प्रकृति के प्रति अनुराग इतना अधिक है कि नरेतर क्षेत्र भी उनकी भावुकता के खेमे में आ गया है। शहरों में बसे ग्रामीणों का साथ पशु–पक्षी नहीं छोड़ते, 'कबूतर हमारे छज्जे के नीचे सुख से सोते हैं, गौर हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव–म्याँव करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी–कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं।' स्पष्ट है कि शुक्ल के निबन्धों में उनका कवि हृदय और उसकी भावुकता समाहित है।

निबन्ध विधा में **निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप** अंकित रहती है। अतः लेखक के वैयक्तिक जीवन प्रसंगों, घटनाओं एवं अनुभवों से निबन्ध में भाव प्रधानता देखते ही बनती है। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में एक लखनवी दोस्त के साथ सांची जाने के प्रसंग में शुक्ल ने अपना प्रकृति प्रेम, देश–प्रेम और बाबुओं पर व्यंग्य आदि कई भावों को एक साथ व्यक्त किया है। जैसे ''यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा सा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। बसंत का समय था। महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मुहँ से निकला ''महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।'' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोकर कहा, ''यहाँ महुए–सहुए का नाम न लीजिए, लोग (पुरातत्व विभाग के लोग) देहाती समझेंगे।'' मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में भारी बट्टा लगता है।'' 'श्रद्धा–भक्ति' शीर्षक निबन्ध में दुकानदार की उक्ति पर व्यंग्य करते हुए शुक्ल बताते हैं, 'एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दुकान पर कुछ परदेसी यात्री किसी बरतन का मोल भाव कर रहे थे कि इतना नहीं–इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दुकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों की याद आ गयो और उन्होंने चट कहा – माया छोड़ो और ले लो।' 'रसात्मक बोध के विविध रूप' निबन्ध में अपनी अबोधता को स्वीकारते हुए बताते हैं, 'रात्रि में, विशेषतः वर्षा की रात्रि में झींगुरों और झिल्लियों के झंकार मिश्रित चीत्कार का बँधा तार सुनकर लड़कपन में मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।' 'लज्जा और ग्लानि' में व्यंग्य मिश्रित यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते हुए देखा है''। शुक्ल जी के आत्मगत प्रसंगों के संदर्भ में ध्यान देने की बात है कि मनोभावों सम्बन्धी निबन्धों में उनका व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक मुखरित हुआ है। शेष निबन्धों में व्यक्तित्व को कम स्थान मिला है।

मनोभावों या मनोविकारों विषयक निबन्धों में विषय के स्पष्टीकरण हेतु शुक्ल जी दैनिक जीवन के अनुभवों का सहारा लेते हैं। 'क्रोध' शीर्षक निबन्ध में प्रतिकार, बदला, क्रोध जैसे सूक्ष्म अंतरों को स्पष्ट करने के लिए वे एक सर्वसाधारण सा उदाहरण लेते हैं, 'एक–दूसरे से परिचित दो आदमी रेल पर जा रहे हैं। इनमें से एक को अगले ही स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते–पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे

को तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते–उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जायेगा।' इसी प्रकार 'घृणा' निबन्ध में घृणा और क्रोध का अन्तर बताने के लिए वे बेहद सामान्य उदाहरण दते हैं जिससे निबन्ध की बोझिलता को भावना से कम किया जा सके, 'यदि होली में कोई गन्दी गालियां बकता चला जाता है तो घृणा मात्र लगने पर आप उन्हें मारने न जायेंगे, उससे दूर हटेंगे, पर यदि आप जहाँ–जहाँ जाते हैं, वहाँ–वहाँ वह भी आपके साथ–साथ अश्लील बकता जाता है तो आप उस पर पिल्ल पड़ेंगे।' इस प्रकार शुक्ल जी का भावनामय हृदय गम्भीर निबन्धों में भी सरसता और रोचकता प्रदान करता है। निबन्धों में उनका भाव पक्ष प्रबल है।

6.4 शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि तत्व

कोई भी विधा विशुद्ध मस्तिष्क प्रधान अथवा हृदय प्रधान नहीं होती। महत्त्व केवल इस बात का है कि किसी साहित्यिक विधा में एक का अनुपात अधिक होता है और किसी अन्य में दूसरे का प्रतिशत ज़्यादा हो सकता है। ज़्यों तो साहित्य अथवा कला माध्यमों का मूल सरोकार भावना या हृदय से अधिक मेल खाता है किन्तु परिवेश और समय के बदलने से सरोकार भी परिवर्तित होते जाते हैं क्योंकि व्यक्ति हो अथवा विधा सभी की सापेक्षता समाज, परिवेश अपने युग से जुड़ी होती है। कविता और निबन्ध में भावना की प्रधानता स्वीकृत रही है किन्तु आधुनिक दौर के साहित्य को देखें तो आसानी से पहचाना जा सकता है कि आज की कविता विशुद्ध भावना प्रधान अथवा गीतात्मक शैली से कोसों की दूरी पर खड़ी है। शुक्ल जी ने इस परिवर्तन को गद्य में सबसे पहले पहचान और निबन्ध को व्यक्तिगत जीवन संदर्भों तक ही सीमित नहीं रखकर एक विशिष्ट प्रकार की शैली (व्यक्तिगत शैली) से संवारा। दूसरी ओर, उन्होंने विज्ञान की ज़रूरत और मनोविज्ञान के बढ़ते दबाव को महसूस करते हुए निबन्ध में बुद्धि तत्व की पैरवी की। अतः शुक्ल में आकर निबन्ध न केवल मस्तिष्क की चेतना से जुड़ा बल्कि हृदय और बुद्धि का सामांजस्य भी इस विधा में स्वीकृत हुआ।

शुक्ल जी ने **जीवन और साहित्य के भावों में मूलरूप से कोई अन्तर नहीं** किया क्योंकि साहित्य उनकी दृष्टि में लोक मंगल का माध्यम है। यही कारण है कि रस के अलौकिकत्व को उन्होंने लौकिक सिद्ध किया। रस की स्थिति काव्य से अलग लौकिक जीवन में भी बताकर जीवन के महत्त्व को स्थापित किया। उन्होंने लोक जीवन की ठोस धरती पर खड़े होकर साहित्यिक मान्यताएँ स्थापित कीं। काव्य की कसौटी लोक सामान्य की भाव भूमि के रूप निर्धारित किये और उन्होंने व्यक्तिवादी और विशुद्ध भाववादी संकुचित धारणाओं से साहित्य को मुक्त किया और उसे सामाजिक जीवन का अंग बनाया। मनुष्य के भावों का स्रोत यही नाना रूपात्मक जगत है। इससे बाहर वे सौन्दर्य की स्थिति स्वीकारते हैं। वे मानव ज्ञान को भी लोकबद्ध मानते हैं। ज्ञान इस व्यक्त और गोचर रूप जगत् का ही होता है, अज्ञात–रहस्यमयी

अगोचर शक्ति का नहीं। शुक्ल इसीलिए अध्यात्म शब्द को काव्य में स्थान नहीं देते। वे जीवन और जगत् की सत्यता को स्वीकारने वाले तथा इसी में सौन्दर्य राशि को देखने वाले निबन्धकार हैं।

शुक्ल जी का जीवन दर्शन प्रवृत्तिमूलक है। वे निवृत्ति मार्ग को पाखण्ड मानते हैं। यहाँ शुक्ल जी के सन्दर्भ में इन दोनों शब्दों को समझना ज़रूरी है क्योंकि भारतीय दर्शन में प्रवृत्ति भोग और निवृत्ति योग का प्रतीक है, जबकि शुक्ल के लिए प्रवृत्ति का अर्थ कर्म और निवृत्ति का अर्थ पलायन अथवा अकर्मण्यता है। लोकमंगल की कसौटी पर साहित्य को कसने वाला आचार्य भला निवृत्ति अर्थात् अकर्मण्यता का पक्षधर कैसे हो सकता है। शुक्ल कर्म सौन्दर्य के सच्चे उपासक हैं। गीता के निष्काम कर्म की व्याख्या जैसी उन्होंने 'उत्साह' निबन्ध में की है वह अपने आप में उनका मौलिक प्रयास और व्याख्या है। वे हिन्दू जाति की अकर्मण्यता पर ज़बरदस्त प्रहार करते हैं। वे कर्म मार्ग के राही होने के साथ पथ प्रदर्शक भी हैं। कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों का ही नाम कर्मण्य है। उनका कर्म मार्ग क्षात्र धर्म को उचित मानता है और सर्वाधिक महत्त्व देता है जबकि भारतीय दर्शन में पुरोहित धर्म सर्वश्रेष्ठ है। शुक्ल जी का कर्म मार्ग क्षात्र धर्म से सम्बन्धित है और अत्याचार एवं अत्याचारी का दमन करने वाला प्रचण्ड मार्ग है। इसीलिए, 'क्षात्र धर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगीं में उनका अखण्ड विश्वास है। तभी तो वे अहिंसात्मक प्रतिरोध और अत्याचारी को गले लगाने की नीति का विरोध करते हैं। सभी प्रकार के अन्याय, अत्याचार तथा अधर्म के नाश का एकमात्र साधन वे क्षात्र धर्म के पालन को मानते हैं। आर्थिक वैषम्य और प्रतिस्पर्धा से भरे व्यापार उन्माद के बीच क्षात्र धर्म एकमात्र उपाय है। 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में बौद्धिक धरातल पर वे इस गला–काट संस्कृति से छुटकारे का समाधान बताते हैं, 'जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख शान्ति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र धर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी। चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।' इस प्रकार शुक्ल जी स्थूल अर्थों में जनवादी न होकर जीवनवादी विचारक ठहरते हैं। वे प्रत्येक मत और सिद्धान्त को अध्यात्म की नहीं, बुद्धि की कसौटी पर कसते हैं। उन्होंने सृष्टि के विकास का क्रम विकासवाद के बुद्धिसंगत सिद्धान्त के अनुसार ही स्वीकृत किया है। 'तुलसी का लोकधर्म' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने भक्ति का विकास मानवता के इसी बुद्धिप्रदत्त विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर दिखाया है। सभ्यता के विकास के साथ भय की सीढ़ी पार करने पर ही शुक्ल वास्तविक भक्ति का विकास सम्भव मानते हैं। अन्धविश्वास का शिकार होकर बुद्धि की अवहेलना उन्हें स्वीकार्य नहीं है।

क्षात्र धर्म की महत्ता प्रतिपादित करने के क्रम में शुक्ल राजनीतिक **दांव–पेंचों से परे देश प्रेम** को परिभाषित करते हैं। उनके देशप्रेम की कसौटी मंच पर खड़े नेता का भाषण नहीं है बल्कि शुक्ल जी सच्चा देश प्रेमी उसे मानते हैं जो देश के कण–कण से प्रेम करता हो, जो देश की मिट्टी को मस्तक पर

धारण करता हो और देश के लोगों के सुख – दुःख का भागीदार बनता हो। वे उन झूठे बाबुओं पर व्यंग्य करते हैं जो राष्ट्र प्रेम के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था का हिसाब–किताब किया करते हैं और जिन्हें अपने ही देश के ग़रीब एवं ग्रामीण भाईयों से नफरत होती है। 'ईर्ष्या' निबन्ध में छोटे–बड़े के आधार पर भेदभाव करने वालों पर वे बरसते हैं, न्यायधीश न्याय करता है, कारीगर ईंटें जोड़ता है। समाज कल्याण के विचार से न्यायधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम इसमें छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई–बड़ाई का अभिमान जगह–जगह जमकर दृढ़ हो जाता है उसके भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है'।

देश प्रेम को हृदयगत संस्कारों का विषय मानने के साथ शुक्ल जी मानते हैं कि देश की भौगोलिक सीमा, प्राकृतिक वैभव, जन–सम्पदा, संस्कृति, जातीय गौरव आदि से परिचित हुए बिना सच्चा राष्ट्र प्रेमी नहीं बना जा सकता। 'लोभ और प्रीति' में उन्होंने लौकिक एवं वैयक्तिक प्रेम के साथ राष्ट्र प्रेम की गहराई के कारणों का विवेचन किया है। स्पष्ट है कि शुक्ल का राष्ट्र प्रेम कोरी भावुकता का विषय नहीं बल्कि राष्ट्र और उसकी अस्मिता के परिचय से उपजा बौद्धिक प्रेम भी है, 'यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु–पक्षी, लता–गुल्म, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सब को वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं झांकते कि किसानों के झोंपड़े के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने–ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश–प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाईयों! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख–दुःख के तुम कभी साथी न हुए, उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। रसखान तो किसी भी लकुटी और कमरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे–पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम–से–कम खीझकर बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैला होने देंगे?'

प्राकृतिक प्रेम के रूप में भी देशानुराग की प्रबलता शुक्ल जी मानते हैं। 'कविता क्या है' निबन्ध में सच्चे देश प्रेमी को इस प्रकार व्यंजित करते हैं, 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी–कभी मग्न हुआ करता है वह घूम–घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश प्रेमी है।' इस प्रकार शुक्ल की दृष्टि में प्राकृतिक एवं भौगोलिक सौन्दर्य से अभिभूत होकर ही राष्ट्र प्रेमी हुआ जा सकता है।

देश प्रेम की भाँति शुक्ल ने भक्ति के स्वरूप को भी अपने ढ़ंग से व्याख्यायित किया है। उनकी भक्ति भगवान् के सत्स्वरूप की संकल्पना इसी जगत् में स्वीकार करती है। **वे नर में नारायण के दर्शन** के आकांक्षी हैं। जीवन और जगत् का त्याग करके घट (आत्म) के भीतर किसी अज्ञात अदृष्ट की साधना उन्हें मान्य नहीं है। 'लोभ और प्रीति' में वे रामभक्त को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, 'मेरे देखने में तो वही रामभक्त–सा लगता है जो अपने पुत्र–कलत्र, भाई–बहिन, माता–पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चींटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रूक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है। लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है।' स्पष्ट है कि शुक्ल की अध्यात्म भावना बौद्धिकता से संचालित है।

मनोविकारों सम्बन्धी निजी परिभाषाओं में भी शुक्ल की तार्किक एवं बौद्धिक विचार शृंखला को देखा जा सकता है। इनका एक ठोस सामाजिक आधार है। उनके भाव निरूपण का उद्देश्य भी मनुष्य की व्यावहारिक एवं तार्किक क्षमता को जागृत करना है। वे प्रत्येक मनोविकार का सामाजिक दृष्टि से आंकलन करते हैं। पाश्चात्य फ्रायडियन सिद्धान्त या यान्त्रिक भौतिकवादी विचारधारा उन्हें मान्य नहीं, जो व्यक्ति को कुण्ठाओं का शिकार बनाकर परिस्थितियों का दास बना देती है। इनसे दूर हटकर शुक्ल भावों या मनोविकारों की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता को सामाजिक पहलू से आँकते हैं। उदाहरण के लिए 'ईर्ष्या' निबन्ध में वे ईर्ष्या को अनावश्यक भाव बताकर उसकी तुलना में स्पर्धा का महत्व बताते हैं, 'स्पर्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी।' क्रोध सर्वथा निन्दनीय है किन्तु शुक्ल इसे सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्व देते हैं। 'क्रोध' निबन्ध में सामाजिक जीवन को अत्याचारी–अन्याय से बचाने के लिए क्रोध के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है, 'क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है, वहीं से क्रोध के सौन्दर्य का आरम्भ होता है।' यहाँ लोकपीड़क रावण के दमन में प्रवृत्त राम के आग्नेय नेत्रों में भी उन्हें अद्‌भुत सौन्दर्य दिखाई देता है। शील के लिए वे लज्जा और संकोच को जरूरी बताते हैं किन्तु इनकी अधिकता को लोक व्यवहार में बाधक भी मानते हैं। ग्लानि को आत्म परिष्कार का माध्यम बताते हैं तथा भक्ति–श्रद्धा की सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करते हैं। 'उत्साह' निबन्ध में कर्मयोग की प्रतिष्ठा करते हैं, 'किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम से होता है।' इस प्रकार विपरीत समझे जाने वाले भावों को तार्किकता की कसौटी पर कसकर शुक्ल लोकहित के लिए उन्हीं विरोधी भावों की उपयोगिता सिद्ध करते हैं।

शुक्ल ने काव्य एवं कला का बौद्धिक पक्ष उद्‌घाटित किया है। उनके अनुसार काव्य की प्रेरणा प्रवृत्तिमूलक है। कर्म की प्रेरणा और लोकहित की साधना इसके माध्यम से सम्भव है। 'कला कला के लिए'

वाले सिद्धान्त में शुक्ल की रुचि नहीं है। उन्होंने काव्य को मात्र मनोरंजन अथवा विलास का साधन नहीं माना बल्कि 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबन्ध में स्पष्ट रूप से कहते हैं, 'काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।' कविता को वे खुशामद तथा दिल बहलाने का माध्यम नहीं मानते इसलिए शुक्ल ने रीतिकाल की घोर शृंगारिकता को स्वीकार नहीं किया। स्वयं प्रवृत्तिमूलक होने के कारण उन्होंने पलायनपरक छायावादी कविताओं का विरोध किया। जीवन के प्रगतिशील तत्वों से रहित और यथार्थ जीवन से दूर की कविता उन्हें मान्य नहीं है। कल्पनावादियों को भी स्पष्ट कहा कि 'कल्पना' इस वस्तु जगत से अलग किसी अन्य अद्‌भुत सृष्टि की रचना नहीं करती। लोक हृदय, लोकमंगल और लोकहित की अवहेलना करने वाले साहित्य को वे साहित्य की श्रेणी से बहुत दूर मानते हैं। लोक जीवन और कर्म सौन्दर्य का सामंजस्य प्रतिपादित करने की दृष्टि से शुक्ल ने भारतीय प्रबन्ध काव्यों और उनमें अभिव्यक्त लोक जीवनबद्ध प्रेम पद्धति की प्रशंसा की है। 'लोभ और प्रीति' में प्रवृत्तिमूलक प्रबन्ध काव्यों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं, 'भारतीय प्रबन्ध काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोकजीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर रही। आदि–कवि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दण्डकारण्य के विस्तृत कर्म क्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरने वाला नहीं। इसी लोक जीवनबद्ध प्रेम को वे श्रेयस्कर मानते हैं जहाँ वैयक्तिक प्रेम सामाजिक उपयोगिता एवं लोकमंगल का माध्यम बनता है। वे उस प्रेम का मान करते हैं जो संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन पथ को रमणीय और सुन्दर बना देता है और लोक के लिए प्रशस्त करता है।

शुक्ल जी **कोरी भावुकता का विरोध** करते हैं। वे उस कृत्रिम सभ्यता के विरूद्ध हैं जिसमें सच्ची सहानुभूति का अभाव है और घड़ियाली आँसू बहाने वालों की भीड़ है। भावों के इस बनावटीपन के कारण 'घृणा' शब्द वैर या क्रोध को छिपाने का काम दे जाता है। वैज्ञानिक जीवन के हस्तक्षेप को स्वीकार करते हुए भी वे जीवन–मूल्यों की उदात्त भावभूमि से आँखे नहीं चुराते। 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में टकाधर्म पर चुटकी लेते हुए यथार्थ का जीता–जागता चित्र प्रस्तुत करके देश की विसंगतियों को उघाड़ते हैं, 'आजकल तो बहुत–सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राजसम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है जिनके पास कुछ रुपया है, बड़े–बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकद्दमें दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील–बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यन्त भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए।' इस कृत्रिम सभ्यता पर 'श्रद्धा–भक्ति' निबन्ध में भी चोट की गई है, 'कुछ दिनों पहले की सभ्यता मनुष्य जीवन को देवतुल्य बनाने में थी, अब

मर्कटतुल्य और मत्स्यतुल्य बनाने में समझी जाने लगी है।' इसी प्रकार गेरूआ वस्त्र लपेटे, धर्म का डंका पीटने वालों, देश हितैषियों का लम्बा चोगा पहनने वालों, देशोद्धार का ढोंग रचने वालों, झूठी श्रद्धा करने और कराने वालों, नाना विध के प्रपंचो को सभा सोसायटियों के मंचों से उठाने वाले वाग्वीरों की बौद्धिक आधार पर भर्त्सना की गई है। काशी के ज्योतिषी, कानपुर के बनिए और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार आदि धन के पुजारियों को आड़े हाथों शुक्ल ने लिया है। अपने स्वरूप वैचित्र्य और अपने अभाव की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए मनुष्य के भावों से खेलने वाले शासकों और धर्माचार्यों, सभी प्रकार के ढोंगियों और अनाचारियों के प्रति उनके मन में अतिशय रोष भाव है।

6.5 सारांश

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्ल के निबन्धों में भाव एवं बुद्धि का सामंजस्य है। भाव उनके निबन्धों को सरस बनाते हैं तो बुद्धि के द्वारा वे लोकहित का माध्यम बनते हैं। मुख्य बात यह है कि घूम फिर कर शुक्ल के निबन्ध लोकमंगल एवं कर्मप्रेरणा से आ जुड़ते हैं। इस क्रम में वैषम्यों पर कुठाराघात करने से वे नहीं चूकते साथ ही जीवन का सुन्दर रूप जहाँ भी उन्हें मिलता है वहीं उनका हृदय रमता दिखाई देता है। यहीं पर यह भी ध्यान देने की बात है कि मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में उनके वैयक्तिक जीवनानुभवों से प्राप्त निष्कर्ष समाहित हैं और साहित्यशास्त्र एवं विषयप्रधान निबन्धों में बौद्धिकता का आग्रह है। कुल मिलाकर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि साहित्य को लोक कल्याण का माध्यम बनाने की पैरवी शुक्ल ने प्रमुखता के साथ की। भावों और विशुद्ध मनोरंजन की चौहद्दी से उन्होंने साहित्य को बाहर निकालकर उससे क्षात्र धर्म की भाँति कर्म सौन्दर्य का पाठ पढ़ाया। यह उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। विषय एवं विषयीगत धारणा के आधार पर नापें तो हम कह सकते है कि मौलिकता की दृष्टि से शुक्ल के निबन्ध यदि विषयीगत हैं तो साहित्यिक एवं व्यावहारिक धरातल पर विषय प्रधान हैं। लेखकीय उद्देश्य, प्रवृत्ति, शैली तथा पाठकीय उपलब्धि की दृष्टि से ये निबन्ध विषय प्रधान हैं। उन्होंने अपनी बौद्धिक यात्रा में पड़ने वाले कुछ चिन्तनमनन प्रधान विषयों को चुना और विवेचित किया। उनका उद्देश्य नवीन विषयों से पाठकीय चेतना को मात्र परिचित कराना नहीं वरन् उसकी बुद्धि को जागृत करना भी रहा है अतः विवेचन में बौद्धिकता एवं मार्मिकता दोनों का समभाव है। अनेक स्थलों पर वैयक्तिक जीवनानुभवों से जुड़कर भी ये निबन्ध विषय से जुड़े रहते हैं। कह सकते हैं कि भावों या मनोविकारों का परिचय शुक्ल के निबन्धों को विषयीगत बनाता है और साथ ही इनका सामाजिक व्यावहारिक जुड़ाव एवं उत्तरदायित्व इन्हें विषय प्रधानता की कोटि में खड़ा करता है। चिर–परिचित मान्यताओं के बहिष्कार एवं नवीन मौलिक उद्भावनाओं की सर्जना में शुक्ल का बौद्धिक आग्रह खुलकर सामने आता है और परम्परागत साहित्यिक विरासत एवं अनुग्रह उन्हें भावुक बनाते हैं। इस प्रकार विश्लेषण की दृष्टि से उनके निबन्धों को खुले रूप में हम विषय प्रधान अथवा विषयी प्रधान कह सकते हैं। निश्चित रूप से एक ओर भावप्रधानता और

बुद्धिप्रधानता के खेमे में विभाजित कर सकते हैं किन्तु साथ ही यह भी देखना होगा कि ये दोनों स्थितियाँ शुक्ल के यहाँ परस्पर पूरक हैं और इनसे मिलकर ही उनके निबन्ध पूर्णता को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आलोचना की दृष्टि से शुक्ल के निबन्ध भाव या बुद्धि प्रधान कहे जा सकते हैं किन्तु इनका पूर्ण आस्वादन हृदय एवं बुद्धि के सम्पूर्ण आयामों को साथ रख कर ही किया जा सकता है।

6.6 कठिन शब्द

अभिव्यंजनावाद, प्रवृतिमूलक, माधुर्य, संकोच, उत्साह, न्यायधीश, धरातल, लोकमंगल, सौभाग्यवश, प्रतिकार।

6.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र1. आचार्य शुक्ल के निबन्ध भावप्रधान है या बुद्धि प्रधान, विस्तारपूर्वक विचार करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र2. भाव तत्व एवं बुद्धि तत्व पर प्रकाश डालते हुए शुक्ल के निबन्धों पर विचार करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र3. 'आचार्य शुक्ल' के निबन्धों में निबन्ध के भाव एवं बुद्धि तत्व के महत्त्व को सिद्ध करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. साहित्य–अनुभूति और विवेचन – संसार चन्द्र
2. गद्य विधाएं – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. श्रेष्ठ निबन्ध – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – द्वारिका प्रसाद सक्सेना
5. हिन्दी साहित्य में निबन्ध और निबन्धकार – गंगा प्रसाद गुप्त
6. हिन्दी निबन्ध – गणपति चन्द्रगुप्त
7. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदयाल
8. सामाजिक हिन्दी निबन्ध – डॉ. ज्ञानेन्द्र वर्मा
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : निबन्ध यात्रा – डॉ. कृष्णदेव झारी
10. आचार्य शुक्ल – जयनाथ नलिन
11. रामचन्द्र शुक्ल – डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
12. निबन्ध : सिद्धान्त और प्रयोग – डॉ. हरिहर नाथ द्विवेदी

.....

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की भाषा शैली

7.0 रुपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 आचार्य शुक्ल की भाषा शैली

3.3.1 वैज्ञानिक भाषा पद्धति

3.3.2 उदाहरण शैली

3.3.3 साहित्यिक भावना प्रधान भाषा शैली

7.4 शुक्लीय निबन्ध शैली के विविध रूप

7.5 भाषा शैली की सीमाएँ

7.6 भाषा शैली का महत्त्व

7.7 सारांश

7.8 कठिन शब्द

7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

7.1 उद्देश्य

- भाषा का अर्थ जान सकेंगे।

- शैली का अर्थ जान सकेंगे।
- निबन्ध में भाषा एवं शैली का महत्व जान सकेंगे।
- निबन्ध की शैली के विविध रूपों से परिचित हो सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

निबन्ध गद्य की कसौटी है और शैली निबन्ध की कसौटी है। कविता के कला–पक्ष की बात करते हुए हम काव्य शिल्प की चर्चा करते हैं शिल्प अर्थात् काव्य–शास्त्रीय दृष्टि से काव्य के कला–पक्ष की जांच पड़ताल करना। किन्तु गद्य में, विशेष रूप से निबन्ध में शिल्प का स्थान 'शैली' ले लेती है क्योंकि शैली निबन्धकार के व्यक्तित्व तथा आत्म–पक्ष के साथ जुड़ी होती है और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना की गुंजाइश निबन्ध में रहती है। अतः निबन्ध के कला पक्ष की चर्चा करते हुए भाषा तत्त्व अर्थात् भाषा शैली का महत्त्व बढ़ जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गिने–चुने शैली निर्माताओं में प्रमुख स्थान रखते हैं। हिन्दी गद्य की भाषा और शैली के निर्माण में भी आलोचना की तरह, उनका सर्वाधिक महत्त्व है। हिन्दी गद्य की अभिव्यंजना शक्ति को उन्होंने खूब बढ़ाया है। हास्य–व्यंग्य, मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोगों के अतिरिक्त मूर्तिमत्ता उनकी शैली की एक बड़ी विशेषता है। शुक्ल जी साहित्य की विशेषता अर्थ ग्रहण कराने मात्र में नहीं मानते। वे बिम्ब ग्रहण कराना भाषा की मुख्य विशेषता मानते रहे। भाषा की कसावट का सर्वोत्तम उदाहरण शुक्ल के अतिरिक्त कहीं और पाना दुष्प्रायः है। शुक्ल जी ही हिन्दी की प्रौढ़ साहित्यिक व्यंजना–प्रधान समासयुक्त विवेचनात्मक वैयक्तिक शैली के जनक हैं। हिन्दी निबन्धकारों में यदि किसी सफल रचनाकार का नाम लेना हो, जिसने भाषा की समस्त शैलियों – विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक शैली और उसके विभिन्न रूपों निगमन, आगमन, आलोचनात्मक, तर्क प्रधान, तुलनात्मक, निर्णयात्मक आदि के साथ भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक, हास्य–व्यंग्यात्मक, आलंकारिक शैली का निर्वाह समान अधिकार के साथ किया है तो वहां पर आचार्य शुक्ल को ही लिया जा सकता है।

शुक्ल जी के निबन्ध हिन्दी गद्य के चरम विकास के द्योतक हैं। निबन्ध में भाषा पूर्णतः व्याकरण–सम्मत होती है, जो भाषा की शक्ति और उसके स्वरूप की निश्चितता और प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। निबन्ध विभिन्न प्रकार के विचारात्मक ज्ञान–विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर लिखे जाते हैं। अतः सभी विषयों से सम्बन्धित, प्रचलित और पारिभाषिक शब्दों का समावेश निबन्धों में हो जाता है। अतः भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का पूर्ण विकास निबन्धों में ही होता है। किसी गद्य लेखक की भाषा शैली का पूर्ण विकास उसके निबन्धों से ही ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए शुक्ल जी के गद्य को लें तो गद्य शैली का, भाषा का प्रौढ़ रूप जैसा उनके निबन्धों में मिलता है वह उनके अनुवादों अथवा 'साहित्य का इतिहास' में नही झलक पाता।

7.3 आचार्य शुक्ल की भाषा शैली

आचार्य शुक्ल से पहले हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में व्यक्तित्व व्यंजक विविधताएँ प्रचुर मात्रा में सामने आती रहीं, किन्तु चिन्तन की वैज्ञानिक प्रकृति से अनुशासित भाषा शैली का आविर्भाव नहीं हो पाया था। इस अभाव की पूर्ति शुक्ल जी ने की। शुक्ल की भाषा शैली मुख्यतः वैज्ञानिक विवेचन की भाषा पद्धति है। इसीलिए तर्क योजना उनके निबन्धों को प्रारम्भ से अन्त तक और शब्द चयन से वाक्य रचना तक, विचारों के क्रम से लेकर अनुच्छेदों के नियोजन तक समाहित रहती है। इस तर्क योजना के साथ भाषा का संघटन देखते ही बनता है।

7.3.1 वैज्ञानिक भाषा पद्धति

शुक्ल जी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उसमें कलात्मक सौन्दर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गयी है। तथापि यह शैली एक जैसी नहीं वरन् निबन्ध की सापेक्षता के अनुरूप परिवर्तित होती गयी है। 'करूणा', क्रोध' आदि निबन्धों में शैली का आनन्द कम है, सूक्ष्म तर्क योजना में रसास्वाद की प्रक्रिया छिपी हुई है। यहाँ आवेशपूर्ण एवं आलंकारिक शैली का प्रयोग पतझड़ में बसन्त की तरह है। जबकि 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य,' काव्य में रहस्यवाद' आदि काव्य–शास्त्रीय निबन्धों में यह पद्धति प्रवाहपूर्ण है। इनमें एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनन्द मिलता है। वैज्ञानिक भाषा पद्धति का ब्यौरेबार वर्णन इस प्रकार हैः–

(क) **उपयुक्त शब्द नियोजन अर्थात् शब्द पर्याय संभव नहीं :** वैज्ञानिक भाषा पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता प्रसंगानुकूल उपयुक्त शब्द की खोज और उसका प्रयोग है। उदाहरण के लिए क्रोध' निबन्ध का पहला वाक्य है, ''क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।'' इस वाक्य में प्रसंगानुकूल उपयुक्ततम् शब्दों का यथास्थान प्रयोग हुआ है। यहाँ के 'चेतन' स्थान पर सजीव, सज्ञान आदि में से अन्य शब्द उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार 'साक्षात्कार' के स्थान पर देखने या दर्शन जैसे शब्द पर्याय नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार यदि 'अनुमान' के स्थान पर अन्दाज़ शब्द से वाक्य सौन्दर्य ही खण्डित हो जायेगा, क्योंकि कार्य कारण, अनुमान शब्द न्याय अथवा तर्कशास्त्र से सम्बन्धित शब्द है। कार्य से कारण का अनुमान और कारण से कार्य का अनुमान दर्शन, अथवा तर्कशास्त्र में सामान्य बात है। उपयुक्ततम् शब्द खोजी होने के कारण शुक्ल के निबन्धों के सम्पादित कार्य में शब्द पर्याय नहीं रखे जा सकते।

(ख) **नवीन शब्द निर्माण :** शुक्ल जी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी गद्य शैली के विविध रूप, रंगों,

भंगिमाओं का विकास किया और शब्द भण्डार की श्रीवृद्धि की। एक ओर, उन्होंने प्राचीन आर्य संस्कृति से प्राप्त पुराने शब्दों को सहेजा और दूसरी ओर, पश्चिमी साहित्य और काव्यशास्त्र के पुराने–नये शब्दों का हिन्दी में अनुवाद कर पारिभाषिक हिन्दी शब्दों का निर्माण कर भाषा को समृद्ध किया। संस्कृत साहित्य से सादृश्य विधान, विभाजन व्यापार, अन्योन्याश्रय, रागात्मिका वृत्ति, अज्ञान कुलशील, ब्रह्मानन्द सहोदरत्व, काव्यानुभूति, रसानुभूति, परोक्ष सत्ता, संलक्ष्यक्रम अनुमान, असंलक्ष्यक्रम अनुमान, स्मृत्याभास, भावोद्रेक, भावोन्मेष, रूप सौन्दर्य, कर्म सौन्दर्य, भाव–सौन्दर्य, सर्वात्मा, अंशात्मा, ग्रहण शक्ति और उद्भाविका शक्ति जैसे अप्रचलित शब्दों का जीर्णोद्धार किया। अंग्रेजी के अनुवाद रूप में हिन्दी पर्याय खोजे जैसे स्वच्छन्दतावाद **(Romanticism)**, आदर्शात्मक **(Idealistic)**, गत्यात्मक **(Dynamic)**, अभिव्यंजनावाद **(Expressionism)**, रूढ़ि **(Convention)**, इतिवृत्तात्मक **(Matter of Fact)**, प्रभाववादी समीक्षा **(Impressionist criticism)**, स्वयंप्रकाश ज्ञान **(Intuition)**, निरपेक्ष **(Absolute)**, ज्ञानातीत **(Transcendental)**, सर्ववाद **(Panthesim)**, प्रभाववाद **(Suppressionism)** आदि अनुवादित शब्दों ने हिन्दी भाषा के पारिभाषिक कोश को व्यापक बनाया। इनके अतिरिक्त शुक्ल जी ने मूल शब्द से संयुक्त शब्द बनाकर वैयक्तिक पारिभाषिक धरातल पर उन्हें स्पष्ट करते हुए निबन्धों में प्रतिष्ठा दिलाई। जैसे 'लोक' शब्द से उन्होंने अनेक संयुक्त शब्द बनाये – लोकमंगल, लोकधर्म, लोकऋण, लोक–मर्यादा, लोक–कल्याण, लोक–रंजन, लोकबद्ध, लोक–व्यवहार, लोकानुकरण, लोकोन्मुख, लोक संग्रह इत्यादि।

(ग) **शब्दों का मितव्ययी प्रयोग :** शुक्ल जी की एक बहुत बड़ी विशेषता सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता है। इन वाक्यों में जीवन के अनुभवों और चिन्तन का सुदीर्घ फल संचित होता है। ऐसे वाक्य साधारण वाक्यों के बीच में आकर चमत्कार उत्पन्न करते हैं, 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।' अथवा' 'जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि हम बड़े संकोची है, उनमें संकोच कहां ?' अथवा 'राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं'। अथवा 'कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं है।' जैसे वाक्य शक्ति रूप में कम शब्दों के माध्यम से बहुत बड़ी बात कह देते हैं।

(घ) **श्रृंखलाबद्ध वाक्य विधान :** इस प्रकार के गद्य विधान में प्रत्येक वाक्य अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती वाक्य के साथ तर्कपूर्ण ढंग से जुड़ा होता है। वाक्यों के इस क्रम परिवर्तन की गुंजाइश नहीं होती। इसी प्रकार अनुच्छेदों का क्रम भी श्रृंखलाबद्ध होता है। 'भाव या मनोविकार' निबन्ध की प्रारम्भिक पंक्तियों से इसे समझा जा सकता है, 'अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ

होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भरने के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरम्भ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं, विशेष–विशेष विषयों की ओर विशेष–विशेष रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

उपर्युक्त अनुच्छेद में यदि पहले–दूसरे वाक्य का ही आपस में क्रम बदल दिया जाए तो वैज्ञानिक तर्क प्रणाली का पूरा क्रम ही भंग हो जाएगा क्योंकि यहाँ तर्क की निगमनात्मक पद्धति का प्रयोग होने से वाक्यों का क्रम ऊपर से नीचे उतरने की ओर है। पहले वाक्य में सार्वभौमिक सत्य (प्राणी जीवन का आरम्भ द्वन्द्व से) है और दूसरे वाक्य में सीमित सत्य (उच्च प्राणी मनुष्य भी) का वर्णन है। तीसरे वाक्य में और भी सीमित सत्य (बच्चे का छोटा सा हृदय) दूसरे वाक्य की अपेक्षा है। इस प्रकार पहले समस्त प्राणी अर्थात् जीव और पशु–पक्षी, फिर उच्च प्राणी अर्थात् मनुष्य और फिर बच्चा और उसमें भी छोटा सा हृदय इस प्रकार एक क्रम में वाक्य रखे गये हैं। चौथे वाक्य में सुख–दुःख की सामान्य अनुभूति और पांचवे में हँसना और रोना रूप में विशिष्ट अनुभूति की चर्चा है। इस प्रकार शुक्ल के वाक्य विधान में क्रम परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

7.3.2 उदाहरण शैली

वैज्ञानिक विवेचन प्रणाली के अर्न्तगत शुक्ल जी के निबन्धों की एक विशेषता यह भी है कि वे उदाहरण या दृष्टान्त देकर अपनी बात समझाते हैं। इनके प्रयोग से विचार सहजता और स्पष्टता के साथ समझ आ जाते हैं और भाषा में जीवन्तता, सादगी और चित्रात्मकता आ जाती है। 'क्रोध' शीर्षक निबन्ध में पहले शुक्ल ने क्रोध की परिभाषा दी है फिर बताया कि क्रोध के लिए पहुँचने वाले दुःख और उसके कारण का परिज्ञान आवश्यक है, इसके बिना क्रोध उत्पन्न नहीं होता। अपनी बात कहने के बाद वे इसे और ज्यादा स्पष्ट करने के लिए उदाहरण देकर समझाने का प्रयास करते हैं, 'तीन–चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख प्रकट कर देता है।' इस उदाहरण के आधार पर अगले वाक्य में उन्होंने सूत्र शैली में निष्कर्ष निकाला कि, 'दुःख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नहीं होता। वैज्ञानिक भाषा पद्धति में तर्क, बुद्धि और विचार आधार रूप में रहता है जबकि साहित्यिकता का आधार भावुकता और भाव हैं। हालाँकि वैज्ञानिकता भी साहित्य में, साहित्यिक पुट से अलग नहीं होती।

7.3.3 साहित्यिक, भावना प्रधान भाषा शैली

हृदय और बुद्धि की यात्रा में शुक्ल के निबन्धों की भाषा शैली विभिन्न मनोभावों के अनुरूप अपने रूप में परिवर्तन करती हुई भावानुगामिनी बनी है। **हास्य और विनोद** की मनोदशा में शुक्ल अर्थ–सौष्ठव से आगे बढ़कर शब्दों की सजावट अथवा शब्द चमत्कार का मिश्रण कर देते हैं। 'लोभ और प्रीति' के सिलसिले में 'सबकी टकटकी टके की ओर लग गई', 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए।' ध्यान देने की बात है कि यह शब्दगत सजावट मात्र चमत्कार हेतु नहीं है बल्कि अर्थ सौष्ठव को अधिक स्पष्ट करने और चमकाने वाली है।

आवेश की मनोदशा में शुक्ल एक ही प्रकार के छोटे–छोटे वाक्यों की झड़ी–सी लगा देते हैं। 'लोभ और प्रीति' से इस भावदशा को समझा जा सकता है, 'जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय–सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं जानते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने–ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का पता बताकर देशप्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि, 'भाइयों! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ?

उत्साह मूलक क्रोध की दशा में उनके वाक्य सीधे लेकिन हथौड़े की सी चोट करने वाले होते हैं। 'श्रद्धा–भक्ति' निबन्ध में वे गुणशील सायहीन नकली श्रद्धेयों पर कुपित होकर जनता से कहते हैं, 'इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए। इन्हें सामाजिक दण्ड दे देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरूआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।' **हल्के क्रोध** की स्थिति में वे उपहास–व्यंग्य करते हैं, 'श्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले।' जबकि अतिशय क्रोध की तिलमिलाहट में वे कटु व्यंग्य बाण छोड़ते हैं, "लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय–निग्रह, तुम्हारी मानापमान–समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विग्रहणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है।" अथवा 'हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ओढ़ी थी, पर वे लोग बाघ की बोली बोल लेते हैं।'

इस प्रकार शुक्ल के निबन्धों की भाषा–पद्धति वैज्ञानिक होने के साथ विभिन्न मनोभावों के अनुकूल विभिन्न शैलीगत भंगिमाएँ धारण कर लेती है। भाषा परिवर्तन का यह स्वरूप उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

7.4 शुक्लीय निबन्ध शैली के विविध रूप

निबन्ध के विषयानुरूप निबन्ध की शैली भी अनेक हो सकती हैं। शुक्ल के निबन्ध हृदय और मस्तिष्क पर एकदम प्रभाव डालते हैं उसका एक बहुत बड़ा कारण शैली की, विषयानुरूप स्वीकृति है। यहाँ तक कि अंग्रेज़ी की तर्ज़ पर उन्होंने सांकेतिक चिह्नों से भी परहेज नहीं किया। भावावेग अथवा विचार प्रवाह के कारण उन्होंने ऐसे प्रयोग किए हैं।

सांकेतिक भाषा शैली के अन्तर्गत विभिन्न निर्देशक चिह्नों जैसे उद्धरण चिह्नों, कोष्ठक, डैश इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। शुक्ल के निर्देशक चिह्नों का अनुकरण नयी कविता में बखूबी देखा जा सकता है जहाँ संवेदना की अतिशयता से इनका प्रयोग कवियों ने किया है। शुक्ल में यह शैली कई रूपों में मिलती है अर्द्धविराम अर्थात् कॉमा(ए) का प्रयोग करने से प्रत्येक वाक्य के लिए अलग से क्रिया का इस्तेमाल नहीं करना पड़ता दूसरे, कथन की व्याप्ति भी सिद्ध होती है, 'अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है – कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूपों में।' यहाँ कॉमा प्रयोग से प्रत्येक अर्द्धविराम के साथ ''रूप में प्रकृति हमारे सामने आती है'' बार–बार कहने की आवश्यकता नहीं है। कहीं कोष्ठक का सीधे प्रयोग नहीं करके डैश (–) का प्रयोग हुआ है, 'करूणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फैंकती अर्थात् जिस पर करूणा की जाती है वह बदले में करूणा करने वाले पर भी करूणा नहीं करता – जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है– बल्कि कृतज्ञ होता है अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।' यहा दोनों (–) के बीच का कथन' जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है' दरअसल कोष्ठक में भी रखा जा सकता था। कहीं–कहीं पर सीधे कोष्ठक ( ) प्रयोग किया गया है। कोष्ठक वास्तव में एक प्रकार की तात्पर्य शैली है कथन पर दवाब देने के लिए उसी भाव की नियोजना दूसरी शब्दावली में की जाती है, 'वे कभी तो अपने आप विषयों को मन के सामने लाते हैं, कभी किसी विषय के आने पर उससे सम्बन्ध (पूर्वापर वा कार्य–कारण सम्बन्ध) रखने वाले और बहुत से विषय उपस्थित करते है।' (करूणा निबन्ध) अंग्रेजी प्रभावित तर्ज़ पर शुक्ल ने संयुक्त वाक्यों का 'कन्जेक्शन' की भाँति प्रयोग किया है।

समुच्चय बोधक शैली के अन्तर्गत यदि तो अर्थात् कार्यकारण परम्परा के प्रयोग से भाषा में चुस्ती, प्रवाह और प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। 'कविता क्या है' से उदाहरण लेकर इस प्रयोग को समझा जा सकता है,' यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देखकर वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर भीतरी कुरूपता का विसर्जन उसने न किया, यदि दीन–दुःखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढ़ब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ?'

इनके अतिरिक्त शुक्ल के निबन्धों में निबन्ध शैली के चिरपरिचित रूप भी मिलते हैं।

विवेचनात्मक शैली

शुक्ल के विचारात्मक निबन्धों की प्रमुख शैली विवेचनात्मक है। शब्दगत और अर्थगत दृष्टि से यह दो प्रकार की होती है–एक व्यास शैली और दूसरी समास शैली। समास के भी दो प्रकार शब्दगत और अर्थगत समास हैं। शुक्ल के निबन्धों की विवेचनात्मक शैली समास प्रधान है जो अर्थगत समास के रूप में मिलती है। शब्द समास शैली का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम किया गया है। दो शब्दों अथवा कहीं तीन शब्दों से अधिक का शब्द समास प्रयोग उनमें नहीं मिलता। 'नाद सौन्दर्य', 'लोक संग्रह', 'सिद्धान्त वाक्य', 'लोक–जीवन–बद्ध' जैसे स्वाभाविक शब्द समास भाषा में सौष्ठव और गाम्भीर्य लाते हैं। थोड़े में बहुत अधिक कहने की प्रकृति के कारण शुक्ल के निबन्धों में अर्थ समास अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। व्यंजनाशक्ति पर आधारित कलाकौशल उनके निबन्धों का एक बड़ा गुण है जिसके रहते उन्होंने अनेक अर्थगर्भित मार्मिक उक्तियों का निर्माण किया है, 'जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना–न–जीना बराबर है।' लोभियों के लिए कहते हैं, 'न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।' विवेचनात्मक शैली का प्रधान रूप व्याख्यात्मक शैली है जिसके अन्तर्गत आगमन, निगमन और आगमन–निगमन–तीनों शैलियों का प्रयोग शुक्ल ने किया है।

आगमन शैली

इसके माध्यम से निबन्धकार अपनी बात को खूब समझा–समझाकर कहता है और इसके लिए वह उदाहरण, उद्धरण, तुलना, व्याख्या, अर्थात् तात्पर्य यह है कि, इससे सिद्ध हुआ, सारांश है कि इत्यादि का प्रयोग करते हुए अपने कथन को सूत्रबद्ध करने की कोशिश करता है। आगमन शैली में विशेष–विशेष सत्यों के आधार पर सामान्य सत्य की स्थापना की जाती है। इसमें वाक्य विधान सुश्रृंखलित होता है।'कविता क्या है' में इसी सामान्य सत्य अथवा सामान्य धर्म की स्थापना हुई है, 'इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा–बहुत होता है।' विषय स्पष्टीकरण के पश्चात् इस प्रकार स्थापना की गई है, 'सारांश यह है कि केवल साधारणत्व की रूचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है।' इसी प्रकार 'लोभ और प्रीति' में पहले विश्वामित्र के उदाहरण और व्याख्या से स्पष्ट करके अन्त में स्थापना करते हैं, 'अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।'

निगमन शैली

इसमें सामान्य से विशेष सत्य की स्थापना होती है। आगमन शैली में निष्कर्ष अथवा सूत्र स्थापना

बाद में होती है जबकि निगमन शैली में पहले और बाद में उदाहरण, व्याख्या से स्पष्टीकरण होता है। 'ईर्ष्या' निबन्ध के अनेक अनुच्छेदों का आरम्भ सूत्र स्थापना से ही हुआ है जैसे, 'ईर्ष्या का दुःख प्रायः निष्फल ही जाता है', 'ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है', 'ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति'। इन सूत्रों से स्पष्ट है कि अनुच्छेद का आरम्भ आकर्षक उद्‌भावना से हुआ है और पाठक में उत्सुकता जगाने की शक्ति लिए है।

निगमन–आगमन संयुक्त शैली

'कविता क्या है?' निबन्ध में दोनों शैलियों का संयुक्त उदाहरण मिलता है। पहले निगमन शैली के आधार पर सूत्र स्थापना है, 'भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर–भीतर बना है और बराबर बना रहेगा।' इस बात की व्याख्या, उदाहरणों आदि से समझाकर फिर आगमन शैली के अनुसार सारांश अथवा निष्कर्ष प्रतिपादित करते हैं, 'सारांश यह है कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा, जो मूर्त और गोचर होंगे। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे।' इस प्रकार की संयुक्त शैली में शुक्ल विषय को भाँति–भाँति से समझाने का प्रयत्न करते हैं। विवेचनात्मक–व्याख्यात्मक की विविधता, शैली की प्रवृत्ति पर भी आधारित होती है जैसे तर्क के आधार पर तर्कपूर्ण शैली। इसी भांति अनेक शैलियां शुक्लीय निबन्धों में मिलती हैं।

उद्‌बोधनात्मक शैली में नैतिकता की दृष्टि से आदेश–निर्देश दिए जाते हैं। जैसे–'योरोप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे, यह आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे–पीछे हैं।' साहित्य–आलोचना सम्बन्धी निबन्धों में निर्णयात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। इसके द्वारा किसी मत की स्थापना की जाती है अथवा निर्णय दिया जाता है। 'श्रद्धा–भक्ति' से ऐसे उदाहरण लिए जा सकते हैं, 'संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती।' 'क्षात्र–धर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी।' 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' किन्हीं दो दृष्टिकोणों, विचारों, सम्प्रदायों के बीच तुलना करते हुए तुलनात्मक शैली का प्रयोग 'काव्य में रहस्यवाद' निबन्ध में मिलता है,'अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य की अभिलाषा, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात की अभिलाषा यह बिलकुल विदेशी कल्पना है और मज़हबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशों में की गई है।' इसी प्रकार 'श्रद्धा–भक्ति' में देखें, 'प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार', यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।' समीक्षात्मक निबन्धों में तर्कपूर्ण शैली का निर्वाह हुआ है। विभिन्न सिद्धान्तों और विचारों का खण्डन–मण्डन करने के लिए शुक्ल तर्क देते हैं। इस दृष्टि से 'कविता क्या है' में महत्त्वपूर्ण तर्क योजना मिलती है, 'उक्ति की वहीं तक की वचन भंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे

कुन्तल जी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बन्ध रखती हो, उसके आगे नहीं।' इस प्रकार विवेचनात्मक–व्याख्यात्मक शैली की जितनी व्यापकता शुक्ल में है, उतनी किसी निबन्धकार में नहीं है। शुक्ल ने भाषा को गढ़ने के क्रम में सभी क्षेत्रों से भाषा प्रयोग किए हैं और निबन्ध की गद्य शैली को समर्थ एवं सुदृढ़ किया है।

मुहावरे

साहित्य अथवा काव्य का अर्थ मात्र–ग्रहण से नहीं बल्कि बिम्ब ग्रहण से पूर्ण होता है और यही काव्य का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु शुक्ल जी ने चित्रात्मक, बिम्बात्मक और मुहावरेदार शैली का प्रयोग किया है क्योंकि मुहावरों में पूरी संस्कृति का अर्थ समाया होता है। 'ईर्ष्या' निबन्ध में वास्तविकता और सापेक्षिकता के प्रसंग में मुहावरा प्रयोग है, ' सापेक्षिकता नज़र का खेल है, और कुछ नहीं। यदि हमें पेट भर अन्न नहीं मिलता है, तो लोग समझते है कि हम अपने किसी साथी से अच्छे या धनी हैं, तो लोगों की इस धारणा से हमारा पेट नहीं भर सकता।' गंभीर विवेचन हेतु भी मुहावरों का प्रयोग हुआ है, 'जो किसी के लिए नहीं जीते उनका जीना–न जीना बराबर है।' एक ही वाक्य में एकाधिक मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है, ' किसी की अच्छी चीज़ को देखते ही जिनके मुंह में पानी आ जाता है वे बराबर **खरी –खोटी सुना** करते हैं।

तद्भव शब्दावली

सिद्धान्त निरूपण एवं गंभीर विवेचन में शुक्ल जी ने संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली का इस्तेमाल किया है। लेकिन मनोभावों सम्बन्धी निबन्धों में तद्भव शब्दों को अपनाया गया है। तद्भव का प्रयोग शुक्ल जी धड़ल्ले से करते हैं– गड़बड़झाला, सेंतमेंत, निकम्मा, धड़ाधड़, बेधड़क, खटकना, मोल, लत, ढब इत्यादि। भाषा को समर्थ करने के क्रम में उन्होंने विदेशी शब्दों जैसे उर्दू शब्दावली से भी परहेज़ नहीं किया।

उर्दू शब्दावली

शब्द के प्रति उदारता बरतने वाले शुक्ल जी ने विषय–निर्वाह और शैली सौष्ठव की दृष्टि से उर्दू–फारसी शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। 'उत्साह' निबन्ध में एक वाक्य उर्दू शब्दों से भरा पड़ा है, 'सलाम–साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।' इसके अलावा बोलचाल की उर्दू के सैंकड़ों शब्द मिलते हैं– अलबत्ता, कद्र, कायम, खेल–तमाशा, शौक, मज़ाक, फरमान, फरमाइश, दस्तावेज, दास्तान, हकीकत, गुंजाइश, गनीमत, अक्ल, महफिल, नकल, सखुन,

कदम आदि। शब्द चाहे अंग्रेज़ी हो या संस्कृत, तद्भव हो या उर्दू शुक्ल ने इनका प्रयोग विषयगत गाम्भीर्य और विवेचन हेतु ही किया है।

लाक्षणिक शैली

बिम्ब ग्रहण को महत्त्व देने के कारण शुक्ल जी के लिए लाक्षणिक भाषा का प्रयोग जरूरी बन पड़ा है। उनके निबन्धों में लाक्षणिक शब्दावली से युक्त मार्मिक उक्तियाँ बड़ी प्रभावशाली हैं। 'लज्जा और ग्लानि' में यह प्रयोग देखते ही बनता है, 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गयी, उपासक सब पत्थर के हो गए। आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। सब धर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए।' एक ही शब्द के विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों को इस निबन्ध में देखा जा सकता है, 'आँख खुलने पर जो आँख खोलने वालों को ही देख सकें, उनकी आँख की दुरूस्ती में बहुत कसर समझनी चाहिए।' तुकबन्दी वाले शब्दों से संवरी लक्षणा शक्ति को भी देख सकते हैं, 'लोक व्यवहार की दृष्टि से अनिष्ट से बचने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धृष्टों का मुँह–उनकी वन्दना करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे।' इसी प्रकार पद रचना में लाक्षणिकता मिलती है जैसे – 'ठठरियों पर माँस चढ़ना', 'शब्द जबान पर नाचना', 'टेढी–सीधी सुनना' आदि।

अलंकारिक शैली

चमत्कार के स्थान पर स्वाभाविकता के रूप में शुक्ल के निबन्ध अलंकारों से परहेज़ नहीं करते। उपमा और रूपक जैसे सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग उनमें मिलता है। 'भाव या मनोविकार' में रसायन विज्ञान से लिए गए उपमान का सटीक प्रयोग किया गया है, 'मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं।' इसी प्रकार भूगोल से वर्षा की प्रक्रिया को लेकर उसे सामाजिक प्रक्रिया पर उपमा और रूपक के माध्यम से सुन्दर रूप में श्रद्धा भक्ति में उद्घाटित किया है, 'कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति केन्द्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिषमान शक्ति केन्द्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघखण्डों के समान उठकर तथा एक और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा–सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं। अर्थ के उत्कर्ष में सहायक छोटे– छोटे अनुप्रास उन्हें प्रिय हैं, 'करूण क्रोध', 'कष्ट–क्रन्दन', 'प्रफुल्ल–प्रसून–प्रसार', 'शीतल सुख स्पर्श', 'तामस ताप' आदि। एक ही अवतरण में उपमा, रूपक, लक्षणा,

व्यंजना का संलिष्ट विधान श्रद्धा–भक्ति, निबन्ध में मिलता है, 'इन्हें जो कुछ हम श्रद्धावश देते हैं, वह ठीक समाज के दुरूस्त पेट में जाता है, जहाँ से रस, रूप में उसका संचार अंग–अंग में होता है। इसके विरूद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग में उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतिसार या संग्रहणी वाले को खिलाया हुआ अन्न।' इतनी विपुल मात्रा में भाषा शैली समृद्ध होने के कारण शुक्ल पर भाषागत दुर्बोधता परिणामस्वरूप चिन्तन विषयक जटिलता को लेकर आरोप भी लगे हैं।

7.5 भाषा शैली की सीमाएँ

भाषा सम्बन्धी नवीनता और विषयों के साथ–साथ परिवर्तित शैली के कारण शुक्ल के निबन्धों में शैलीगत जटिलता विद्वान् पाठक एवं आलोचक महसूस करते हैं। जैसे कि कहीं समास बहुलता से अर्थ स्पष्ट नहीं होता, 'व्यक्ति सम्बन्ध हीन सिद्धान्त मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हो पर प्रवर्त्तक मन को अव्यक्त रहते हैं'। वहीं वाक्य विन्यास अस्पष्ट हो गया है, 'निन्दा का भय लज्जा नहीं है, भय ही है, और बातों का जिनमें लज्जा भी एक है।' कहीं–कहीं वाक्य अतिशय दीर्घ हो गए हैं,'कोई बात ऐसी है जिसके प्रकट हो जाने के कारण हम दूसरों को अच्छे नहीं लगते हैं, यह जानकर अपने को, और प्रकट होने पर हम अच्छे न लगेंगे यह समझकर उस बात को, थोड़े–बहुत यत्न से उनके दृष्टिपथ से दूर करके भी जब हम समय पर अपना बचाव कर सकते हैं, यही नहीं, अपने व्यवधान कौशल पर सदा बचते चले जाने की आशा तक – चाहे वह झूठी ही क्यों न हो – कर सकते हैं, तब हमारा केवल यह जानना या समझना सदा सुधार की इच्छा ही उत्पन्न करेगा, कैसे कहा जा सकता है ?' ऐसे लम्बे वाक्य अपनी लम्बाई और दूसरे निर्देश चिह्नों के कारण सरलता से समझ नहीं आते।

7.6 भाषा शैली का महत्त्व

उपर्युक्त छुट–पुट दोषों के बावजूद शुक्ल के निबन्धों की भाषा शैली हिन्दी गद्य के सर्वांगीण विकास की कहानी कहती है। उन्होंने गद्य शैली की अभिव्यंजना सामर्थ्य को बढ़ाता कला कौशल, शैलीगत प्रौढ़ता, गंभीर, कसावटमयी, संश्लिष्ट शैली का सफल प्रयोग किया, विविध शैलियों का सार्थक समन्वय किया। इतनी समस्त, समर्थ, परिष्कृत, प्रौढ़, विशुद्ध और सुष्ठु भाषा का रूप और कहाँ मिलेगा जिसमें व्यवाहारिकता, वैज्ञानिकता और साहित्यिकता का रूप एक साथ बना रहता है। लगता है एक–एक शब्द में निबन्धकार ने स्वयं को साकार किया है। इतनी समर्थ, स्पष्ट और रोचक शैली में ऐसे गंभीर विषयों का सूक्ष्म प्रतिपादन किसी अन्य निबन्धकार ने किया हो, इसमें संदेह है। **Style is the man himself** की उक्ति उनके निबन्धों में चरितार्थ होती है। उनके गम्भीर व्यक्तित्व के अनुकूल ही उनकी गद्य शैली भी गंभीर

है। पारिभाषिक शब्द–निर्माण, स्वनिर्मित, नवनिर्मित शब्द, बिम्ब ग्राह्यता, हास्य–व्यंग्य, सांकेतिक भाषा शैली का काव्यमय प्रयोग, अर्थ–गर्भित सूत्र शब्दावली आदि उनकी गद्य शैली की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें हिन्दी गद्य साहित्य का सर्व समर्थ निबन्धकार सिद्ध करती हैं।

7.7 सारांश

डॉ॰ रामविलास शर्मा के शब्दों में कहें तो शुक्ल जी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी के काव्यशास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति विरोधी धाराओं का खण्डन किया और संस्कृत–हिन्दी की प्रगतिशील परम्परा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और अलंकारिक भी हैं और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है। शब्द चयन में उर्दू के प्रचलित शब्दों से उन्हें परहेज़ नहीं है। साहित्यिक भाषा प्रवृत्ति और विवेचनात्मक–वैज्ञानिक शैली के सभी रूपों का निर्वाह उन्होंने किया है। हिन्दी निबन्ध जगत में व्यक्तित्व व्यंजक विविधताएँ प्रचुर मात्रा में सामने आती रहीं किन्तु चिन्तन की वैज्ञानिकता से अनुशासित भाषा शैली के अभाव की पूर्ति शुक्ल के निबन्धों में आ कर ही हो सकी। इस प्रकार उनके निबन्धों में एक सुघड़ शिल्पी, मूर्तिकार, शब्दों के चितेरे की सी छवि होती दिखाई देती है। जिसका उदाहरण सैंकड़ों कोशिशों के बावजूद कोई दूसरा लेखक नहीं कर सका। शुक्ल अपना कीर्तिमान स्वयं है। शुक्ल में आ कर निबन्ध शैली का चरम और पूर्ण विकास सम्भव हुआ।

7.8 कठिन शब्द

अभिव्यंजना, मूर्तिमता, समासयुक्त, व्यंग्यात्मक, आगमन, निगमन, तर्क, निर्णयात्मक, निर्वाह, समावेश, समीक्षा, ब्रह्मनन्द, भावोद्रेक।

7.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र1. आचार्य शुक्ल के निबन्धों की भाषा शैली पर सविस्तार प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र2. भाषा शैली का सविस्तार परिचय देते हुए शुक्ल के निबन्धों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र3. शुक्ल के निबन्धों में भाषा शैली के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. साहित्य–अनुभूति और विवेचन – संसार चन्द्र
2. गद्य विधाएं – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3. श्रेष्ठ निबन्ध – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – द्वारिका प्रसाद सक्सेना
5. हिन्दी साहित्य में निबन्ध और निबन्धकार – गंगा प्रसाद गुप्त
6. हिन्दी निबन्ध – गणपति चन्द्रगुप्त
7. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदयाल
8. सामाजिक हिन्दी निबन्ध – डॉ. ज्ञानेन्द्र वर्मा
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : निबन्ध यात्रा – डॉ. कृष्णदेव झारी
10. आचार्य शुक्ल – जयनाथ नलिन
11. रामचन्द्र शुक्ल – डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
12. निबन्ध : सिद्धान्त और प्रयोग – डॉ. हरिहर नाथ द्विवेदी

.....

निबंध परम्परा में कुबेरनाथ राय का स्थान

8.0 रुपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 निबन्ध साहित्य के विकास में कुबेरनाथ राय का स्थान

8.4 सारांश

8.5 कठिन शब्द

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

8.1 उद्देश्य

- हिन्दी की निबन्ध परम्परा को जान सकेंगे।
- निबन्ध के विकास में कुबेरनाथ राय की भूमिका को जान सकेंगे।
- निबन्ध में छिपे लोक कल्याण के अर्थ को जान सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना

'निबन्ध' गद्य साहित्य की एक विशेष विधा है जिसमें लेखक किसी विषय या वस्तु के सम्बन्ध में निजी विचारों का प्रतिपादन साहित्यिक शैली में प्रस्तुत करता है। निबन्ध का सम्बन्ध न केवल साहित्य से अपितु, विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि से भी है। हिन्दी में साहित्यिक निबन्धों का अभ्यदुय आधुनिक काल से ही हुआ है। पूर्ववर्ती साहित्यकारों का लक्ष्य सामान्यता अपनी भावनुभूतियों के ही प्रकाशन का था। विचारों

का सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों का प्रर्वतन तथा पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। जिन्होंने हिन्दी निबंध के उद्‌भव और विकास के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

8.3 निबन्ध परंपरा के विकास में कुबेरनाथ राय का स्थान

गद्य के प्रादुर्भाव के साथ–साथ ही निबंध का भी जन्म हो गया था। भारतेन्दु जी के समय से निबंध–लेखन–परंपरा अत्यंत परिपक्व रूप में सामने आने लगती है। भारतेन्दु काल में विभिन्न पत्र–पत्रिकाएं निकल रही थीं, उन्हीं के माध्यम से भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्‌ट तथा पं० प्रताप नारायण मिश्र परवर्ती अनेक लेखक अत्यंत श्रेष्ठ कोटि की निबंध–रचना कर रहे थे। भारतेन्दु 'हरिश्चद्र मैगज़ीन', बालकृष्ण भट्‌ट 'हिन्दी प्रदीप' तथा पं. प्रताप नारायण मिश्र 'ब्राह्मण' पत्रिकाओं का संपादन कर रहे थे और इनमें इनके बड़े महत्वपूर्ण निबंध प्रकाशित हो रहे थे। इनके अतिरिक्ति भारतेन्दु–युग में बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री जैसे निबंधकार भी निबंध–रचना में संलग्न थे। वस्तुतः इस युग के निबंधों में विषयों का बड़ा वैविध्य है जो इस काल के निबंध–साहित्य को समृद्धि प्रदान करता है। भारतेन्दु जी ने इतिहास, प्रतत्त्व, धर्म, कला, समाज–सुधार, जीवनी, यात्रा–वृतांत, भाषा–साहित्य जैसे विषयों पर अनेक निबंध लिखे। प्रताप नारायण मिश्र ने इनसे भी आगे बढ़कर सामान्य से सामान्य विषयों को रोचकता से निबंधों में प्रस्तुत किया। धोखा, खुशामद, आप, बात, दाँत, माँ, मेरी, मूच्छ, परीक्षा, समझदार की मौत जैसे निबंध यह प्रमाणित करते हैं कि मिश्र जी के लिए विषयों की कोई सीमा नहीं थी। जीवन–जगत का कोई भी विषय उनके निबंध का कथ्य बन सकता था। इस युग के निबंधकारों में जो प्रखर सामाजिक चेतना और शैली की जिंदादिली दिखाई देती है, वह आगे के निबंध में नायाब होती चली गयी है।

द्विवेदी युग तक आते–आते निबंध पूरी तरह प्रतिष्ठित होकर विकास के पथ पर तीव्र गति से बढ़ता है। इस युग में निबंध का विषय–विस्तार भी हुआ और भाषा के विकास के साथ–साथ शैली में भी प्रौढ़ता आयी। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, गोविंद नारायण मिश्र, मिश्र बंधु– विशेषतः श्याम बिहारी मिश्र व शुकदेव बिहारी मिश्र, सरदार पूर्ण सिंह, चंद्रधर शर्म गुलेरी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, श्यामसुंदर दास, पद्‌म सिंह शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि ने इस युग में निबंध साहित्य को समृद्ध किया। इस युग में विषयों की दृष्टि से भारतेन्दु युग के समान जिंदादिली तो नहीं मिलती किंतु एक आलोचनात्मक गंभीरता निबंधों में आ जाती है। साहित्य और भाषा की विभिन्न समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करने वाले निबंध इस युग में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आदि द्वारा लिखे गये। व्यंग्य की दृष्टि से बालमुकुंद गुप्त के 'शिव शम्भू का चिट्‌ठा' निबंध विशेष महत्व के हैं, आज भी उनकी प्रासंगिकता है। पं. माधव प्रसाद मिश्र के पर्वों, त्योहारों तथा भ्रमण सम्बन्धी निबंध

विशेष रोचक बन पड़े हैं। इस युग में सरदार पूर्ण सिंह के निबंधों का विशेष महत्व है। इन्होंने अपने छः निबंधों से ही हिंदी निबंध के इतिहास में अपनी विशिष्ट पहचान और स्थान बना लिया था। पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी प्रकाण्ड विद्वान थे, पुरातत्व, इतिहास, आदि से सम्बंधित उनके निबंध विद्वता का परिचय देते हैं। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाव' जैसे निबंधों ने गुलेरी जी को बहुत ख्याति प्रदान की। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने साहित्यिक विषयों के निबंधों के लिए तो जाने जाते ही है किंतु उन्होंने मनोविज्ञान का जितना सूक्ष्म अध्ययन अपने कुछ निबंधों में किया है, वह साहित्य की अमूल्य धरोहर है। श्रद्धा, भक्ति, लोग और प्रीति ईर्ष्या जैसे मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण उन्हें अपने ही प्रकार के मनोवैज्ञानिक निबंधकार का अद्वितीय गौरव दिलाता है। समग्रतः इस युग के निबंध में एक प्रकार की गंभीरता और शोधपरक प्रवृत्ति तो है ''किंतु वह ताज़गी, वह उल्लास, वह निर्द्वन्द्व भाव, व्यक्तित्व का उल्लासित उच्छवास तथा खड़ी बोली के भीतर से झाँकती हुई अवधी या ब्रज की चुलबुलाहट और मधुरता इस युग के निबंधों में उपलब्ध नहीं होती जो भारतेन्दुयुगीन साहित्य की सहज निधि थी।''

छायावाद युग के समय निबंध साहित्य और भी प्रौढ़ता तथा समृद्धि प्राप्त करता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी, बेचन शर्मा उम्र, रघुवीर सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, आदि कितने ही प्रसिद्ध निबंधकारों ने अपने कृतित्व से हिंदी निबंध को विकसित किया। नयी–नयी शैलियों और ज्ञान तथा पंडित्य की ऊर्जा से हिंदी निबंध ने बहुत प्रगति की। आचार्य शुक्ल के निबंध उनके ''विशद पांडित्य, प्रौढ़ चिंतन, सूक्ष्म विश्लेषण, व्यापक अनुभव'' के लिए ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस काल में भी उनके मनोवैज्ञानिक निबंध प्रकाशित हुए और उन्हें अच्छी पहचान मिली। इस युग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि ठलुआ कलब', फिर निराशा क्यों, मेरी असफलताऐं' में संकलित कई निबंधों में ललित निबंध का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। मेरा मकान, मेने नापिताचार्य, मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ, प्रीति भोज' आदि निबंधों में ललित निबंधों के गुण देखे जा सकते हैं। पद्म लाल पुन्नालाल बख्शी जी ने भी निबंध साहित्य की समृद्धि में अच्छा योग दिया उनके निबंध पंचपात्र शीर्षक से प्रकाशित हुए। 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पंडित,' 'श्रद्धाजंलि के दो फूल' – इनके चर्चित निबंध हैं। बेचन शर्मा 'उम्र', रघुवीर सिंह, माखन लाल चतुर्वेदी आदि ने भावात्मक निबंधों की रचना की। इनके अतिरिक्त भी अन्य कुछ निबंधकार, यथा रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी', कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर। पं. भगवतशरण उपाध्याय, आदि अपने निबंधों से निबंध–साहित्य का विकास कर रहे थे किन्तु इनका अधिकांश कृतित्व बाद के समय में ही प्रकाश में आया। अतः इनकी चर्चा आगे की जायेगी।

छायवादोत्तर काल में हिंदी निबंध का विकास ग्राफ बहुत तेज़ी से ऊपर गया है और इसमें शैली तथा विषय दोनों दृष्टियों से हिन्दी निबन्ध ने नित्य नये क्षितिज छूए हैं। इस युग के प्रारम्भ में एक ओर तो

ऐसे साहित्यिक निबंध लिखे जा रहे थे जो निबंध की सीमा से परे जाते हुए 'समीक्षा'–'आलोचंना' की श्रेणी में जा रहे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, तथा नंद दुलारे वायपेयी के निबंध इसी कोटि के थे। इनसे अलग हट कर आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध एक अलग ही ढंग ले कर हिंदी साहित्य की श्री वृद्धि करते हैं। ये निबंध अपने लोक, प्रकृति और संस्कृति से अत्यन्त गहरे रूप में जुड़े हुए हैं। इन निबंधों में भी द्विवेदी जी के पाण्डित्य और गंभीर ज्ञान के दर्शन होते हैं किंतु वे इतनी सहजता से निबंध में अनुस्यूत हैं कि पाठक पर भारी नहीं पड़ते। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'विचार और प्रवाह', 'कुटज' आदि उनके निबंध संग्रह हमारे साहित्य की अमूल्य धरोहर है ं

जैनेन्द्र कुमार ने भी चिंतनपरक और दार्शनिक निबंधों के द्वारा अपनी अलग पहचान बनायी। धर्म, राजनीति, साहित्य–संस्कृति, प्रेम–काम, विवाह आदि विषयों पर उन्होंने अपनी बेवाक सोच अकुण्ठ भाव से व्यक्त की है। 'जड़ की बात', 'साहित्य का प्रेय और प्रेम', 'सोच–विचार', 'मन्थन', 'ये और वे' इतस्ततः आदि संकलनों के रूप में उनके निबंध प्रकाशित हुए। शांतिप्रिय द्विवेदी और रामधारी सिंह 'दिनकर' के निबंध ही अपनी भाषा–शैली के कारण देर तक अपना प्रभाव बनाए रखते हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी के सचांरिणी', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी', 'धरातल', 'प्रतिष्ठान', 'साकल्य', 'आधान', 'वृत्त और विकास' आदि उनके चर्चित निबंध–संकलन हैं। 'दिनकर' जी के 'अर्धनारीश्वर, 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल' आदि निबंध संग्रह उनके समृद्ध गद्य का परिचय देते हैं। इनके अतिरिक्त रामवृक्ष बेनीपुरी के 'माटी की मूरतें', जंजीर और दीवारें, 'गेहूँ और गुलाब', बन्दे वाणी विनायकों', देवेन्द्र सत्यार्थी के 'धरती गाती है', 'एक युग : एक प्रतीक', 'रेखाएँ बोल उठी' आदि डॉ. जयनाथ नलिन के 'प्रस्ताव प्रभा', चिंतन और कला', 'मझदार के पार' आदि पं. भगवतशरण उपाध्याय के 'इतिहास के पृष्ठों पर', 'खून के धब्बे', 'सांस्कृतिक निबंध' आदि इस काल–खंड के प्रसिद्ध निबंध–संग्रह हैं।

ललित निबंध की परंपरा का जो वास्तविक श्री गणेश आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के द्वारा हुआ था, उसमें विद्यानिवास मिश्र, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर माचवे, विवेकी राय, हरिश्चन्द्र वर्मा एवं कुबेरनाथ राय के कृतित्व का अत्यंत महत्वूपर्ण योगदान है। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में अपने लोक–समाज से गहरा जुड़ाव सांस्कृतिक चेतना और लालित्यमयी शैली देखते ही बनती है। 'छितवन की छाँव', 'तुम चंदन हम पानी', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', आँगन का पंछी' और 'बनजारा मन', 'भोर का आह्वान', मैंने सिल पहुँचाई' आदि इनके निबंधों के प्रसिद्ध संग्रह हैं। प्रभाकर माचवे के निबंध अपने हास्य–व्यंग्य और चुटीलेपन के लिए जाने जाते हैं। 'खरगोश के सींग', 'बेरंग', 'तेल की पकौडियाँ' आदि इनके निबंध संग्रह चर्चा में रहे हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर' के ललित घुंघरू', 'महके आँगन चहके द्वार' 'माटी हो गई सोना', 'दीप जले शंख बजे', आदि संग्रहों के द्वारा उन्होंने हिंदी निबंध को समृद्ध किया। विवेकी राय का 'फिर

बैतलवा डाल पर', लक्ष्मीकांत का 'मैंने कहा', केदारनाथ अग्रवाल का 'समय–समय पर', लक्ष्मीचंद्र जैन का 'कागज़ की किश्तियाँ, डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा का 'चमचा पुराण' आदि निबंधक– संग्रहों ने हिंदी ललित निबंध–परंपरा के संवर्द्धन में योग दिया है।

कुबेरनाथ राय इन सबसे अलग अपनी ही शैली के अनूठे ललित निबंधकार हैं। यद्यपि उनके निबंधों की प्रकृति अपने सांस्कृतिक परिवेश के कारण डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंधों के निकट है किंतु वे उनसे भी आगे बढ़ कर संस्कृति के सनातन प्रश्नों को वर्तमान की चिंता से जोड़ते हैं। उनके निबंध छोटे–से प्रसंग, गाँव या किसी भी स्थान, विशेषतः अपनी जन्मभूमि से किसी भी रुप में उठाते हैं और फिर उनकी उन्मुक्त कल्पना अपने विशाल ज्ञान–भंडार से किसी भी क्षेत्र में विचरण कर सकती है – ज्योतिष, धर्म–शास्त्र, वेद–पुराण, शाक्त–मत, वैष्णव मत, भारतीय काव्य और पाश्चात्य काव्य, भारतीय और पाश्चात्य काव्य शस्त्र आदि–आदि की वीथियों में विचरण करते हुए वे वर्तमान समय के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संकटों से जूझ सकते है। वे अंग्रेजी के निष्णात अध्यापक (आसाम के नलबारी नामक कस्बे में एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय में प्राध्यापक) तथा संस्कृत और हिंदी साहित्य के पारंगत विद्वान थे। अपने विभिन्न ज्ञान–अनुशासनों का प्रयोग कर ललित निबंध के रूप में अपनी अत्यन्त रम्य रचना प्रस्तुत करते हैं। ग्रीक और भारतीय मिथक–संसार की समानताओं का वे अद्‌भुत साम्य रेखांकित कर दोनों संस्कृतियों के बीच सेतु–बंधन का एक महत् कार्य इन निबंधों में संपन्न करते हैं। वे सच्चे अर्थों में 'रस आखेटक' हैं। उन्होंने अपने निबंधों से निबंध–साहित्य को एक अपूर्व गौरव प्रदान किया है। हमारा विचार है कि हिंदी में वे अपने प्रकार के एक ही निबंधकार हैं। ललित निबंध का पारम्परिक रूप उनके निबंधों की गम्भीर–गहन चर्चा को अपनी परिभाषा में समेटने में पूरी तरह समर्थ नहीं है। उनके निबंधों के विभिन्न संग्रह प्रकाश में आये हैं, वे मृत्यु–पर्यत्न श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर निबंध प्रस्तुत करते रहे। 61 वर्ष की आयु में 5 जून, 1996 ई. को उनका स्वर्गवास हो गया। 'मराल', 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गधंमादन', 'निषाद बांसुरी', 'विषाद योग', 'पर्णमुकुट', 'महाकवि की तर्जनी', मणिपुतुल के नाम', किरण नदी पर चंद्र मधु', 'मन पवन की नौका', 'दृष्टि अभिसार', 'त्रेता का वृहत्नाम' तथा 'कामधेनु' आपके प्रसिद्ध निबंध संकलन हैं। हिंदी जगत ने उनके निबंधों का भरपूर स्वागत तथा सम्मान किया। इस क्षेत्र के उच्चतम पुरस्कार उन्हें प्रदान किए गए। 'प्रिया नील कंठी' पर उत्तर प्रदेश शासन के हिंदी संस्थान द्वारा 'स्तरित पुरस्कार' प्रदान किया गया। इसी प्रकार 'महाकवि की तर्जनी' पर 'मानस संगम', कानपुर द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र प्रशस्ति एवं साहित्य पुरस्कार तथा साहित्य अनुसंधान परिषद् द्वारा राम साहित्य पुरस्कार प्रदान किया गया। 'महाकवि की तर्जनी' पर भी उ. प्र. शासन का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार प्रदान किया गया वृहत्नाम को भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता द्वारा सम्मानित किया गया। ये सब पुरस्कार एवं निबंध संग्रहों के कई–कई संस्करण इनकी व्यापक स्वीकृति एवं लोकप्रियता को प्रमाणित करते हैं।

वस्तुतः उनके निबंध अहं से इदम् तक की यात्रा करते हुए अपने पाठक के लिए ज्ञान के विभिन्न किवाड़ खोलते हैं। अपने विभिन्न निबंध–संग्रहों की भूमिकाओं में, जो प्रायः इन संग्रहों के अंत में ही दी गयी हैं, उन्होंने अपने निबंधकार की प्रतिबद्धता से परिचित कराया है। 'प्रिया नीलकंठी' की अंत में शीर्षक भूमिका में वे अपना प्रस्थान बिंदु इस प्रकार बताते हैं, ''मेरी प्रतिज्ञा भी विषयामी नीलकंठी है। दुःख या उल्लास दोनों के भीतर ज़हर होता हैं उस ज़हर को यह खींच कर स्वयं श्यामकंठ हो जाती है और धरती को जो कुछ देती है, वह शुद्ध–प्राण और रस रहता है।'' स्वयं विषपान कर अपने पाठकों को अमृत प्रदान करने की यह निष्ठा किसी भी साहित्यकार की बहुत बड़ी प्रतिबद्धता है।

कुछ लोगों ने उनकी भाषा को लेकर आपत्ति की है कि वह सुग्राह्य नहीं है। वस्तुतः भाषा एक संस्कार है, भाषा में सरल और दरूह कुछ नहीं होता, वह हमें संसर्ग और संपर्क से ही प्राप्त होती है। हमें अपना भाषा–संस्कार विकसित करना होगा। कुबेरनाथ राय की मान्यता है कि यह निबंध जैसी विधा के माध्यम से ही संभव होगा। उन्होंने कहा है कि उनके पूरे लेखन में संस्कृत और लोक–भाषाओं के दो–तीन दर्जन से अधिक शब्द ऐसे नहीं होंगे जो अपरिचय में हैं। ऐसा जहाँ–जहाँ मैंने किया है, सचेत और सकारण ढंग से किया है। उदाहरण के लिए 'प्रजागर पर्व में साहित्यकार' में प्रजागर शब्द को ही लें। यह 'महाभारत' का शब्द है। युद्ध पूर्व रात्रि या व्रत की रात्रि या ऐसी मनः स्थिति के लिए 'प्रजागर' शब्द आया है। मुझे वर्तमान संदर्भ में अर्थगत संवेदनाओं की दृष्टि से यह शब्द मूल्यवान लगा और मैने 'जागरण पर्व' न लिखकर 'प्रजागढ़ पर्व' न लिखकर 'प्रजागर पर्व' लिखा। दिक्कत हमारे लेखन में नहीं है, दिक्कत है नवशिक्षित की भाषागत दरिद्रता के भीतर। मेरा उद्देश्य रहा है पाठक के चित्त को एक परिमार्जित भव्यता देना और साथ ही उसकी चित–ऋद्धि का विस्तार करना। 'वस्तुतः ऐसे स्थलों पर पूरे मनोयोग से पढ़ने पर इन शब्दों का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है, इसके लिए शब्दकोशों का सहारा नहीं लेना पड़ता है। सभी दृष्टियाँ से कुबेरनाथ राय के निबंधों का हिन्दी निबंध साहित्य की श्री वृद्धि में अभूतपूर्व योगदान है।

8.4 सारांश

हिन्दी के ललित निबन्धकारों में कुबेरनाथ राय का अद्वितीय स्थान है। इनके निबन्ध व्यक्ति प्रधान निबन्ध है जिनमें मौलिक चिन्तन, पांडित्य की छाप के साथ–साथ व्यंग्य विनोद का पुट भी विद्यमान है। इनके द्वारा लिखे गए निबंध रोचक, ज्ञानवर्द्धक, आकर्षक एवं मनोरंजक है। कुबेरनाथ राय हिन्दी के ऐसे निबंधकार हैं जिनका हिन्दी निबंध साहित्य में विशिष्ट योगदान है। एक ललित निबंधकार के रूप में इन्होंने हिन्दी निबंध साहित्य की पर्याप्त श्री वृद्धि की है।

8.5 कठिन शब्द

1. संलग्न
2. परिमार्जित
3. क्षितिज
4. प्रादुर्भाव
5. सनातन
6. निर्द्वन्द्व
7. लालित्यमय
8. पुरातत्त्व
9. वीथियों

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

– निबन्ध परम्परा में कुबेरनाथ राय के स्थान पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

– कुबेरनाथ राय पर विचार करते हुए निबन्ध के विकास पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय – डॉ० सुरेश महेश्वरी
2. कुबेरनाथ राय के निबन्धों में ललित तत्व – डॉ० अशोक
3. कुबेरनाथ राय और उनका साहित्य – अमिता सिंह
4. हिन्दी साहित्य में निबन्ध और निबन्धकार – गंगा प्रसाद गुप्त बइसैया
5. हिन्दी निबन्ध – गणपति चन्द्र गुप्त
6. हिन्दी निबन्ध का विकास – डॉ. ओंकार नाथ शर्मा
7. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदयाल
8. सामाजिक हिन्दी निबन्ध – डॉ. ज्ञानेन्द्र वर्मा
9. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – द्वारिका प्रसाद सक्सेना

.....

कुबेरनाथ राय के निबन्धों की विशेषताएँ

9.0 रुपरेखा

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 कुबेरनाथ राय के निबंधों की विशेषताएँ

9.3.1 भारतीय संस्कृति के आख्याता

9.3.2 अहं से इदं – 'स्व' से 'जगत' की यात्रा

9.3.3 परम्परा से आधुनिकता में संचरण

9.3.4 जन्मभूमि प्रेम और प्रकृित–चित्रण

9.3.5 बहुपक्षीय ज्ञान

9.3.6 भारतीय साहित्य से पाश्चात्य साहित्य तक फैला दिगांत

9.3.7 मानवतावादी सन्देश

9.3.8 निबन्ध के ललित्य में साहित्य की गम्भीर चर्चा

9.3.9 वर्तमान के ज्वलन्त राजनीतिक प्रश्नों की चर्चा

9.4 सारांश

9.5 कठिन शब्द

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

9.1 उद्देश्य

- निबन्ध की सामान्य विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- निबन्ध का सामान्य अर्थ भी समझ सकेंगे।
- कुबेरनाथ राय के निबंधों की विशेषताओं को जान सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना

कुबेरनाथ राय के निबन्धों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवेश को उभारने का प्रयास किया है। वे अपने निबन्धों में समसामयिक समस्याओं को उठाकर उनका समाधान खोजना चाहते हैं। इनके निबंधों में विपुल शास्त्र ज्ञान, अगाध पाण्डित्य एवं भाषा की अपूर्व शक्ति देखी जा सकती है। इनकी रचना शैली में गद्य–काव्य की सी रोचकता विद्यमान है। इनके काव्यात्मक बिम्बों, प्रतीकों, उपमानों ने अनुपम अर्थबोध प्रदान किया है, तो लाक्षणिक भाषा ने अर्थ गाम्भीर्य उत्पन्न करने में विशेष योगदान दिया है। इनके निबंधों में सांस्कृतिक बोध भी पर्याप्त मात्रा में उभरा है।

9.3 कुबेरनाथ राय के निबंधों की विशेषताएँ

कुबेरनाथ राय हिंदी के अद्वितीय ललित निबंधकार हैं। भाषा–शैली और कथ्य दोनों दृष्टियों से वे अपना सानी नहीं रखते। कुबेरनाथ राय ने दो सौ से ऊपर ललित और साधे निबंधों को लिखा है। (निबंधकार का स्व कथन 'मराल' संग्रह में जो उनके 14–15 निबंध–संग्रहों में संकलित है।) 'मराल' की 'अपनी बात' शीर्षक भूमिका में उनका कथन है, 'यह मेरी ओर से पन्द्रहवां संकलन है क्योंकि चौदहवां 'उत्तरकुरू' एक अर्से तक प्रकाशक के पास प्रकाशनार्थ पड़ा हुआ था। 'उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं – प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गधमादन', निषाद बाँसुरी, 'विषाद–योग', 'पर्ण मुकुट', 'महाकवि की तर्जनी', 'पत्रमणिमुतुल के नाम', 'किरात नदी मं चंद्र मधु', 'मन पवन की नौका', 'दृष्टि अभिसार', 'त्रेता का वृहत्साम', 'कामधेनु' तथा 'मराल'। उनकी ललित शैली में गम्भीर से गम्भीर विषयों का मनमोहन विश्लेषण प्राप्त होता है जिससे पाठक सहज ही प्रभावित हो उनके प्रवाह में बह जाता है। इसीलिए इन निबंधों का व्यापक स्वागत हुआ, हिंदी जगत ने इन्हें खूब–खूब सराहा और भरपूर सम्मान दिया। उनके अधिकांश निबंधों के प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक प्रसिद्ध विद्वान पाण्डुखां राव ने उनके सम्बंध में लिखा है, 'प्रसन्न पुण्य सलिला भगवती भगीरथी ने कुबेरनाथ राय को रस प्रदान किया तो असम की आत्मीयता ने उनका 'तत्तबोध' कराया। दोनों का मंजुल सांमजस्य श्री कुबेरनाथ राय की लेखनी में विद्यमान है।

वस्तुतः अपने ललित निबंधों में कुबेरनाथ राय देश और समाज, विशेषता, संस्कृति के ज्वलंत प्रश्नों पर अपनी प्रखर सोच की अभिव्यक्ति करते हैं। इसीलिए वे अपने निबंधों को 'क्रद्ध ललित' भी कहते हैं। 'रस आखेटक' की और, अब अन्त में... 'शीर्षक भूमिका में वे अपने निबंधों की प्रस्थान–भूमि का वर्णन इस रूप में करते हैं, इन निबंधों में धरती में क्रोध, धरती की त्राहि और धरती की करूणा का समावेश हो गया है। फलतः ये निबंध 'क्रद्ध ललित' स्वभाव वाले बन गए हैं। इन्हें केवल 'ललित' कहना इनका अधूरा परिचय है। मेरे जैसे तमोगुणी वैष्णव के लिए शुद्ध बारहबानी ललित–ललाम बन उठना–बैठना–चलना कठिन है। सच तो यह है कि मेरा सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो अंतर का हाहाकार।'' इस आत्म–कथ्य से उनके निबंधों की तासीर समझ में आती है। इस रूप में उनकी निबंध केवल चिंतनपरक नहीं है, वे चिंतापूरक हैं, चिंता जगाते है, चिंता करते हैं, सदैव युग, समाज और संस्कृति के पैने प्रश्नों पर चिंतन–प्रवृत्त करते हैं पाठक के लिए भी ये निबंध एक चुनौती की तरह है, वे एक विशेष प्रकार का सांस्कृतिक संस्कार पाठक से माँगते हैं। इनका प्रत्येक पाठ हर बार निबंधों की नयी–नयी विशेषताएँ उद्घटित कर पाठक के मानसिक क्षितिज का विस्तार करता है। इन निबंधों की विशेषताओं का एक स्थूल सा मूल्यांकन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं –

9.3.1 भारतीय संस्कृति के आख्याता

अपने निबंधों के माध्यम से कुबेरनाथ राय जी ने भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ को सामने लाने का महत् प्रयत्न किया है। अपनी चार पुस्तकों– 'निषाद बाँसुरी', 'मन पवन की नौका', 'किरात नदी में चन्द्रमधु', तथा 'उत्तर कुरू' का प्रतिपाद्य बताते हुए वे कहते हैं', इन चारो पुस्तकों का विषय है भारतीयता के ढाँचे (Structure) और 'आत्मिक मूलाधार' (Spiritual Base) की खोज।'' वस्तुतः वे जीवन–पर्यन्त अपने निबंधों के माध्यम से भारतीय परम्परा–संस्कृति के श्रेष्ठ मूल्यों से नयी पीढ़ी को परिचित कराने में संलग्न रहे। वे सही अर्थों में 'पण्डित' थे। अंग्रेज़ी साहित्य तथा शेष पश्चिमी साहित्य, रूसी साहित्य आदि के विद्वान् तों थे ही भारतीय परम्परा से उनका विशाल ज्ञान–भण्डार भरा था। वैदिक परम्परा, शाक्त परम्परा, निगम–आगम, सभी को उन्होंने गंभीर दोहन किया था। अपने लोक और संसार का उन्हें पूरा ज्ञान और सूक्ष्म निरीक्षण था। ये सभी बातें उनके निबंधों में पग–पग पर दिखायी देती है। ''भारतीय संस्कृति के आधार तीन है : वैदिक, तांत्रिक और लोकायत'' – उन्होंने इन तीनों का गम्भीर अध्ययन किया है और उनके निबंधों में पग–पग इस विशाल ज्ञान–राशि के कण बिखरे पड़े हैं जो अपने पाठक को सहज ही, ललित रूप में, एक संपन्नता दे जाते हैं। वे भारतीय संस्कृति के सार–तत्व रूप में तीन शब्दों की अवस्थिति मानते हैं, ''तीन ऐसे शब्द हैं जिन्हें समझने का सामर्थ्य हो तो भारतीयता क्या है, इसका उत्तर मिल जाता है। प्रथम शब्द है 'ऊँ'। ... दूसरा शब्द है 'शिव'... तीसरा शब्द है 'राम'। वे इस भारतीयता की गहन व्याख्या का प्रयत्न ही अपने निबंधों द्वारा करते हैं। भारतीयता उनके लिए दंभ

की वस्तु नहीं अपितु अपने को समझने, सही रूप में जानने की स्थिति है। 'सही भारतीयता क्षुद्र, संकीर्ण राष्ट्रीयता के दंभ के बिलकुल अलग तथ्य है। वह सर्वोत्तम मनुष्यत्व है। पूर्ण 'भारतीय' बनने का अर्थ है 'राम' जैसे बनना।'' इस प्रकार अनेक रूपों में वे भारतीय परंपरा और संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों को सामने ला उन्हें हमारे वर्तमान से जोड़ते हैं। परंपरा और आधुनिकता के मिलन का एक अद्‌भुत संसार उनके निबंधों में प्रस्तुत हुआ है।

9.3.2 अहं से इदं – 'स्व' से 'जगत' की यात्रा

कुबेरनाथ राय की यह विशिष्ट शैली है कि वे किसी छोटे–से अपने प्रसंग को अपने गाँव या क्षेत्र से उठा करं निबंध का आरम्भ करते हैं, फिर चाहे वे कहीं भी अपने पाठक को ले जाएँ यह उनकी कल्पना की स्वतंत्रता है। 'स्व' से आरम्भ कर वे सम्पूर्ण जगत और जागतिक समस्याओं को अपने निबंध के पेटे में समा लेने की चेष्टा करते हैं। 'मैं' से प्रारम्भ कर यह यात्रा 'इदं' तक जाती है, इसे सहज ही 'अहं से इदं तक की यात्रा कहा जा सकता है। 'रस आखेटक' के निबंधों से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। 'रस आखेटक' निबंध का प्रारम्भ इस घटना से होता है कि लेखक के पिताश्री ने पूछा था कि तुम क्या बनना चाहते हो ? संन्यासी और उसके बाद 'प्रोफेसर' बनने की कामना स्पष्ट कर वह आगे बढ़ता है फिर प्रोफेसरों की कूप मंडूकता, आतंकवादी शैव–सिद्धान्त में, विशेषतः मूर्ति और चित्र कला से इसके साक्ष्य उपस्थित करना, ग्रीष्म रात्रि के पिछले प्रहर की श्रृंगार रस, आयुर्वेद ग्रंथों आदि के माध्यम से मधुरता सिद्ध करना, महुआ बीनना, 'गाथा–सप्तशती' द्वारा इस सबकी पुष्टि, आदि–आदि से उनका कथ्य–वितान विस्तीर्ण होता है। इसी प्रकार 'तृषा, तृषा'। अमृत तृषा' निबंध का प्रारम्भ बचपन में रटाये गए पहाड़े की स्मृति और अपने गाँव में अफीम के खेत जोतने की प्रक्रिया से प्रारंभ होता है और फिर आगे बढ़कर 'अकविता', फ्रांस के 'सुर्रियालिज्म', बीटनिक पीढ़ी, पश्चिमी साहित्य में नारी जैसे गम्भीर प्रश्नों की ओर आते हैं। 'दर्पण विश्वासी' का प्रारम्भ सुबह हजामत बनाने की छोटी–सी घटना से होता है। 'हरी–हरी दूब और लाचार क्रोध' तथा 'कवि, तेरा भोर आ गया' की भी यही शैली है।

9.3.3 परंपरा से आधुनिकता में संचरण

कुबेरनाथ राय के निबंधों की सरसता और आकर्षण का मुख्य बिन्दु यह है कि वे परंपरा को अतीत–मोह के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं अपितु उसके साखान रूप को अपने वर्तमान से जोड़ते हैं। इसमें वे अपने पाठक को एक विशाल दृष्टि–बहुत बड़ा विज़न–देना चाहते हैं। ''मेरा उद्‌देश्य रहा है हिंदी पाठक के हिंदुस्तानी मन को 'विश्व–चित' से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना। मेरे निबंध 'भारतीय मन और विश्व मन' के बीच एक सामजस्य उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं।'' परंपरा से इस प्रकार जुड़ कर भारतीय मानस न केवल अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है अपितु

वह वर्तमान के कुहासे में अपने लिए सही दिशा भी पाता है। वह बात प्रारंभ करता है इस कथन से कि पिता ने जब पूछा कि क्या बनना चाहता है तो संन्यासी के बाद प्रोफेसर के रूप में जीवन जीना चाहने की कामना में वह 'प्रोफेसर' के वर्तमान रूप पर विचार करने लगता है ''जिनकी सारी बादशाहत विद्यार्थी–जीवन में लिखे गये नोटों पर आश्रित है'', जो असली प्रोफेसर कर्म करेंगे उन्हें खून के आँसू पीने होंगे। प्रोफेसर किस प्रकार कुलपति की चिरौरी करते हैं, इन सब स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। अफीम की बात करता हुआ, वह उस बीटनीकपीढ़ी और उसके साहित्य की बात करने लगता है जो अफीम का सेवन करती है। इसी क्रम में हिंदी की 'अकविता' आदि पर भी विचार किया गया है। वस्तुतः कुबेरनाथ राय के निबंध इस कथन की पुष्टि करते हैं कि जो व्यक्ति जितना अधिक अपनी परंपरा में डूबा होगा। वह उतना ही अधिक आधुनिक होगा।

9.3.4 जन्मभूमि प्रेम और प्रकृति–चित्रण

अपनी जन्मभूमि गाजीपुर जनपद के गाँव मत्सा और उसके प्राकृतिक परिवेश से निबंधकार को अपार प्रेम है, फलतः वह जहाँ कहीं भी अवसर मिलता है, वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों का कवित्वपूर्ण में यदा–कदा पाते चलते हैं, 'यह पूर्वी उत्तर प्रदेश की धरती है। ...इस पूर्वी उत्तर प्रदेश की धरती का भी ग्रीष्म में अपना एक स्वाद है। अपना एक निजी रस है जिसे हम वैराग्य रस कह सकते हैं। ...अपनी भूमि, अपनी धरती तो अपनी माँ है।'' 'तृषा, तृषा। अमृत तृषा' निबंध में हमारे यहाँ गाज़ीपुर जिले में सफेद फूलों वाले पोस्त ही होते हैं'' का वर्णन आया है। गाज़ीपुर और अपने गांव की धरती की प्रकृति को उसने छायावादी कवि की आँख से निहारा है, ''नौ बजे के बाद ही दिवस दैत्य की तरस मुँह कर आग उगलने लगता है। चारों ओर फसल कट जाने के कारण कहीं–कहीं बीच में बबूल के श्यामल पेड़ और दियासलाई के डिब्बे–जैसे छोटे–छोटे बिना खिड़की के डेरे। दोपहर को यह मैदान धू–धू करके जलने लगता है और यह क्षुद्र पेड़ तथा डिब्बेनुमा डेरे उसकी विस्तृत, सपाट निर्जनता को कम नहीं करते। ...बस्ती के चारों और अवश्य आम, जामून और महुआ के बाग लगे रहते हैं। पश्चिमी हवा आठ बजे दिन से आठ बजे रात तक सम्पूर्ण रोषग्नि के साथ हा–हाकार करके बहती है।'' कहना न होगा कि ग्रीष्म की धू–धू करती हवाओं और पूरे परिदृश्य का इतना सूक्ष्म और रोचक चित्रण और कहीं भी प्राप्त हो सकता है। महुआ बीनने की बात आती है तो लेखक को अपने गाँव–प्रांत का दृश्य याद आ जाता है, ''नयी उमर की लड़कियाँ अँधेरे मुँह महुआ बीनने आती है। कभी–कभी बड़ा हो रोमांटिक कारोबार हो जाता है।'' और तभी व्यथा में डूबे ''रस आखेटक को अपने गाँव के चमारों का ग्रीष्मकालीन भोजन याद आ जाता है और करूणा से भी कह उठता है,'' समस्त पूर्वी उत्तर में यह होता है।'' इस प्रकार उनके निबंधों में जन्म–भूमि और उसकी प्रकृति से लेखक का लगाव सहज ही देखा जा सकता है।

9.3.5 बहुपक्षीय ज्ञान

कुबेरनाथ राय के निबंधों में ज्ञान के अन्य अनुशासनों का परिचय बहुत अच्छी तरह मिलता है। कृषि सम्बन्धी ज्ञान से लेकर ज्योतिष, दर्शन, शैव दर्शन, शाक्त–दर्शन से लेकर ललित कलाओं, विशेषतः, मूर्ति और चित्रकला, आयुर्वेद, नृतत्वशास्त्र, भाषा–विज्ञान आदि ज्ञान के विभिन्न भारतीय साहित्य की अनेक भाषाओं–बंगला, असमिया, आदि की चर्चा भी वे यत्र–तत्र करते चलते हैं। अंग्रेजी साहित्य में तो उनकी गहरी पैठ है ही। इस प्रकार उनके निबंध अपने पाठक को एक बौद्धिक संपदा सौपते हैं। 'रस आखेटक' निबंध में यदि एक ओर आयुर्वेद ग्रंथ 'भाव प्रकाश' का उल्लेख है तो दूसरी ओर ज्योतिष का परिचय इन पंक्तियों में मिलता है, ''...ब्रह्म मुहूर्त्त की रचना विधाता ने 'स्वाद' के लिए नहीं गंध और रूप के लिए की है। पर रोहिणी – मृगशिरा का ब्रह्ममुहूर्त्त अपवाद है।'' इसी निबंध में अजंता के प्रसिद्ध चित्र की चर्चा और युगल मूर्तियों में नर–पुरुष की सुंदरता का विवेचन किया गया है। 'गाथा सप्तशती', फ्रांस के कवियों के अति यथार्थवाद', 'दर्पण विश्वासी' में 'रीज़न' और 'इनट्यूशन' की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, कवि तेरा भोर आ गया है में 'बृहदारण्यक उपनिषद् का उल्लेख आदि से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि निबंधकार अपने पाठक को किस–किस प्रकार का ज्ञान सहजता से दे डालता है।

9.3.6 भारतीय साहित्य से पाश्चात्य साहित्य तक फैला दिगांत

कुबेरनाथ के निबंधों की पहुँच–रेंज–बड़ी व्यापक है। उनमें पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारधारा का अद्भुत संगम दिखाई देता है। वे जितने अधिकार से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के साहित्य की बात करते हैं, उतने ही अधिकार से यूनानी, रोमन और अंग्रेजी साहित्य की बात करते है। उनके निबंधों में इन दोनों साहित्य – धाराओं के बीच सेतु बंधन जैसा किया हुआ है। अपने निबंध के बीच–बीच में तो वे विभिन्न पाश्चात्य कवियों, चिंतकों, काव्य–शास्त्रियों आदि के उल्लेख देते चलते ही हैं, कुछ निबंधों का पूरा का पूरा कथ्य ही उस साहित्य का है। 'रस आखेटक' में 'होमर', –'आत्म–कथ्य', 'बर्जिल पर', 'सिंह–द्वार का कवि प्रेम' तथा 'शेक्सपियर पर कवि प्रेत ने कहा शेक्सपियर' तीन निबंध पूरी तरह साहित्य को ही समर्पित हैं। प्रिया नील कण्ठी एक ग्रीक प्रोषितपतिक का आत्मा कथ्य' भी इसी साहित्य से सम्बन्धित है वे यथा–स्थान भारतीय और पाश्चात्य साहित्य की तुलना तरह–तरह से करते चलते हैं। उन्होंने अपने निबंधों के विषय में जो यह कहा था, ''मेरे निबंध 'भारतीय मन और विश्व मन' के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं'', उसे पूरी तरह सत्य सिद्ध कर दिखाया है। तुलना करते हुए वे भारतीय साहित्य के प्रति अतिरिक्त मोह का गौरवभाव से अभिभूत नहीं है जहां जैसी स्थिति है उसे उसी रूप में कहा है 'होमर' आत्म कथ्य में वे इलियट और वाल्मीकि के सन्दर्भ में कहते हैं, ''ऐसा संगुठित कथानक न तो वाल्मीकि का है और न वर्जिल का। ग्रीकों की कला सम्बन्धी धारणा में आकृति (फॉर्म) का सबसे अधिक महत्व था और फॉर्म का

'गठित' तथा 'सम–सुडौल' (सिमेट्रिकल) होना एक अनिवार्य शर्त थी।'' इस प्रकार वे हमारे ज्ञान–चक्षुओं को खोलने का महत् कार्य सम्पन्न करते हैं।

9.3.7 मानवतावादी सन्देश

कुबेरनाथ राय की मानवतावादी दृष्टि का परिचय निबंध साहित्य में मिलता है। वे व्यापक लोक–कल्याणकारी दृष्टि से साहित्य–सृजन करते थे, इसीलिए उन्होंने अपने सारे साहित्य को अपने ''अंतर का हा–हाकर'' कहा है। यही मानवतावादी दृष्टि बार–बार उन्हें सामान्य ग्रामीण जन की ओर मोड़ती है। महुआ की मधुरिका और उससे जुड़े रस–प्रसंगों का चित्रण करते–करते उसकी दृष्टि भारत के करीब पर आ कर टिक जाती है, ''जब विरही यक्ष के मेघ रामगिरि पर झुकते हैं, जब कामियों की प्रिय ऋतु पावस धरती पर उतरती है, तब हिंदुस्तान के गरीबों की मृत्यु क्षुधा का आधार होता है। अरहर की थोड़ी–सी दाल में काफी महुआ के फूल और नमक डाल कर पका लेते हैं।'' निबंधकार का कवि–हृदय अपने ग्राम–प्रांतर के गरीबों की असहाय गरीबी की पीड़ा से स्थान–स्थान पर उद्वेलित होता है। इसी क्रम में इस निबंध में गांव के चमारों द्वारा बैलों के गोबर से अनपचाया अन्न निकाल कर, धो कर सुखाने और खाने का चित्रण किया गया है। ऐसे स्थल जहां कही भी आते हैं, निबंधकार की मानवतावादी दृष्टि का परिचय मिलता है।

9.3.8 निबंध के लालित्य में साहित्य की गम्भीर चर्चा

ललित निबंध की विधा यो कोमल स्वभाव की विधा है, उसमें लालित्य बहुत अधिक गंभीरता को आने नहीं देता है किंतु कुबेरनाथ राय ने इस सीमा का अतिक्रमण बहुत ही खूबसूरती से किया है। वे अपने ललित निबंध में 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' की उक्ति अनुसार अपनी कल्पना से गंभीर साहित्य–चर्चा, काव्य–शास्त्र की गुत्थियों को सुलझाने या ऐसी ही कुछ गरिष्ठ साहित्यिक बातों को चर्चित करने के अवसर खोज निकालते हैं, पाठक पर बिना कोई अतिरिक्त बोझ डाले। 'मन दर्पण' (दर्पण विश्वासी निबंध) पर विचार करते–करते वे अपना साहित्य संम्बधी दृष्टिकोण पूरी गंभीरता से प्रस्थापित करते हैं कि उनके लिए साहित्य क्या है, ''इसी से मैं मानता हूँ कि साहित्य भीड़ का दर्पण नहीं यानि भीड़ की फोटोग्राफी नहीं। पर साहित्य 'मैं' का भी दर्पण नहीं। साथ ही साहित्य ''भीड़'' और ''मैं' से परे स्वतंत्र निजी सता भी नहीं। साहित्य है इसी त्रिकोण के अन्तर्व्यापी क्रिया–सूत्र का उद्घाटन। साहित्य यथार्थ को नहीं, किसी यथार्थव्यापी एवं साथ ही यथार्थातीत मर्म को, किसी 'सुपर रियल्टी' को व्यक्त करता है। इब्सन, शॅ, हक्सले अपनी यथार्थ दृष्टि–भंगी के बावजूद अपने साहित्य में इसी 'सुपर रियल्टी' को व्यक्त करता है। अपने निबंधों के बीच–बीच में वे इन गंभीर चर्चाओं के लिए अवसर उपस्थित कर लेते हैं।

9.3.9 वर्तमान के ज्वलंत राजनीतिक प्रश्नों की चर्चा

कुबेरनाथ राय अपने समय के अनेक ज्वलंत राजनीतिक–प्रशासनिक प्रश्नों पर अपने व्यंग्य बाण साध कर उन पर अपना अभिमत प्रकट करते हैं। लोकतंत्र और पुलिस–व्यवस्था आदि पर उन्होंने 'रस आखेटक' में विचार किया है। 'हरी–हरी दूब और लाचार क्रोध' निबंध में निबंधकार लोकतन्त्रीय व्यवस्था और अपने देश के लोकतन्त्र पर कई तीखी टिप्पणियाँ करता है, यथा – ''...हमारे देश में लोकतन्त्र है ही नहीं या बिलकुल असफल है। लोकतन्त्र यहाँ है, पर कुछ ऐसे अस्पष्ट उलझे और रंग–बिरंगे मुखौटे पहने है कि इसकी सच्चाई हमारे विश्वास को प्रेरणा नहीं दे पा रही है। पर जहाँ कहीं लोकतन्त्र आहत होता है वहाँ हमारा मर्म पीड़ित हो जाता है।'' कवि तेरा भोर आ गया है' निबंध में पुलिस का कार्य–व्यवस्था पर यह मारक टिप्पणी द्रष्टव्य है, ''पूरे पाँच घंटे तक लूट–पाट और अग्निकांड चलता रहा, एक बड़ा मुहल्ला जला कर साफ कर दिया गया, राष्ट्रध्वज का जगह ब जगह अपमान क्षेत्रीय जातियता के नाम पर किया गया। पर पुलिस मूक दर्शक बन कर खड़ी रही। मुझे जस्टिस आनन्द नारायण मुल्ला का यह कथन कि भारतीय पुलिस सर्वाधिक संगठित डाकू प्रतिष्ठान है, सत्य के पर्याप्त निकट लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुबेरनाथ राय के निबंध हमारे साहित्य की महत्वपूर्ण निधि है।

9.4 सारांश

कुबेरनाथ राय के निबंधों में गम्भीर चिन्तन मनन के द्वारा कहा जा सकता है कि इनके निबंधों की मूल चेतना एवं मूल स्वर सांस्कृतिक है। पौराणिकता का आवरण डालकर वे भावुकता के स्थान पर वर्तमान यथार्थ की अभिव्यक्ति बड़ी कुशलता के साथ करते हैं।

9.5 कठिन शब्द

1. आत्मीयता
2. निरीक्षण
3. सूक्ष्म
4. जागतिक
5. विस्तीर्ण
6. कुहासे
7. अन्यर्व्यापी

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र1. कुबेरनाथ राय के निबंधों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र2. निबंध की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कुबेरनाथ राय के निबंधों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्र3. कुबेरनाथ राय के निबंधों की साहित्य श्रेणी में क्या भूमिका है, प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय – डॉ० सुरेश महेश्वरी
2. कुबेरनाथ राय के निबन्धों में ललित तत्व – डॉ० अशोक
3. कुबेरनाथ राय और उनका साहित्य – अमिता सिंह
4. हिन्दी साहित्य में निबन्ध और निबन्धकार – गंगा प्रसाद गुप्त बइसैया
5. हिन्दी निबन्ध – गणपति चन्द्र गुप्त
6. हिन्दी निबन्ध का विकास – डॉ. ओंकार नाथ शर्मा
7. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदयाल
8. सामाजिक हिन्दी निबन्ध – डॉ. ज्ञानेन्द्र वर्मा
9. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – द्वारिका प्रसाद सक्सेना

.....

कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा शैली

10.0 रुपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 कुबेरनाथ राय के निबन्धों की भाषा–शैली

10.4 सारांश

10.5 कठिन शब्द

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

10.1 उद्देश्य

- भाषा एवं शैली का अर्थ जान सकेंगे।
- भाषा एवं शैली की निबन्ध में क्या भूमिका रहती है, यह जान सकेंगे।
- कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा शैली को समझ सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा में लालित्य, रोचकता, पाण्डित्य, सरसता और बुद्धि वैभव दिखाई पड़ता है। उसमें अर्थ गम्भीर्य, लाक्षणिकता, आलंकारिकता, चित्रोपमता, प्रतीकात्मकता एवं उक्ति वैचित्र्य भी विद्यमान है। भाव प्रधान स्थलों पर उसमें कोमलकान्त अलंकृत पदावली दिखाई पड़ती है तो व्यंग्य–विनोद

के स्थलों पर उसमें लाक्षणिकता का समावेश हो जाता है। इनके निबंधों की शैली अत्यन्त आकर्षक एवं रोचक है। मनीषी के लिए चिन्तन–मनन की सामग्री और सामान्य व्यक्ति के लिए समसामयिक समस्याओं का चित्रण इनमें उपलब्ध है।

10.3 कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा–शैली

कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा–शैली उनकी चयनित विधा 'ललित निबंध' के सर्वथा उपयुक्त है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण है तो उसमें सामान्य बोल–चाल के शब्दों का अत्यंत सहज प्रयोग भी है। वस्तुतः भाषा अपने को स्वयं कथ्य के अनुरूप ढाल लेती है। जब कवि मन की मौज में कल्पना के घोड़े लम्बे दौड़ाता है तो वह भाषा अत्यन्त सहज है किंतु जब उसमें गंभीर विषय चर्चा, दर्शन, काव्य शास्त्र, मिथकीय विवेचन आता है तो वही गंभीर हो जाती है। जिसे हम सामान्य बोलचाल की भाषा कहते हैं, आम–फहम भाषा कहते हैं, उसमें गंभीर विषय विमर्श हो ही नहीं सकता। गंभीर विषयों पर बात करते हुए वह संस्कृत–निष्ठ भी होगी और उसकी अर्थ–संगतियाँ विशिष्ट और लाक्षणिक भी हो जायेंगी। कुबेरनाथ राय के निबंध इस कथन की कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते है। उनमें सहज ही भाषा में एक ऋतु प्रवाह देखा जा सकता है। इस भाषा के सहज प्रवाह का एक उदाहरण द्रष्टव्य है, ''ईश्वर न सही, पर उसकी जगह भरने वाला लोकतन्त्र यदि इतना क्षमतावान् होता कि वह अपने में आस्था को जन्म दे सके, तो भारतीय बुद्धिजीवी आहत क्रोध की इस लाचारी को न भोगता। भारतीय बुद्धिजीवी ने द्रोणाचार्य की तरह अभी तक ईमान नहीं बेचा है और हाथों का सौदा नहीं किया है। पर वह लाचारी भोग कर दिन पर दिन अपना आत्म–क्षय कर रहा है, यह एक 'ट्रेजेडी' है। लोकतंत्र में वरण स्वातंत्रय है। वह वरण करता है। पर संदर्भ ऐसा है कि वरण अर्थहीन हो जाता है। यहां उनकी भाषा में एक आर्दश प्रवाह और शब्द चयन में पूर्ण उन्मुक्त भाव देखा जा सकता है। यदि एक ओर उसमें संस्कृत के सरल तत्सम शब्द हैं तो दूसरी ओर 'लाचारी', 'सौदा', जैसे उर्दू शब्द भी और 'ट्रेजेडी' जैसा अंग्रेजी शब्द विद्यमान है। उसे ग्रहण करने में पाठक को कहीं कोई कठिनाई नहीं होती। यदि ध्यानपूर्वक देखें तो गंभीर से गंभीर चर्चा में भी कुबेरनाथ राय जन–सामान्य में प्रचलित शब्दावली को निस्संकोच–भाव से ग्रहण करते हैं, उसमें कहीं उर्दू के शब्द हैं, कहीं भोजपुरी बोली के तो कहीं अंग्रेजी के यथा – ''सृष्टि में यदि गौर से देखा जाए तो सर्वत्र नर ही सुन्दर और गुणवान है, नारी में सृजन सामर्थ्य मात्र है और कुछ नहीं।'' यहाँ कैसे चुपके से 'गौर से देखा जाए' उर्दू का शब्द आ बैठा है, पाठक (या लेखक) को भी पता नहीं चलता कि वह किसी विदेशी शब्द को इस तत्सम शब्दावली के बीच घुसा बैठा देख रहा है।

जब कुबेरनाथ राय मन की पूरी तरंग में सामान्य से, दर्पण जैसे, विषय पर लिख रहे होते हैं तो उनके छोटे–छोटे वाक्यों का विन्यास, एक शब्द मात्र की पुनरुक्ति से कथन को एक रवानगी और लय देने

का प्रयत्न देखते ही बनता है, ''वाह रे भाई दर्पण''। तुम्हारा लोहा मान गया। तुम मेरे गुरु हो, सखा हो, सारथी हो, रण में, वन में, जले स्थले तुम्हें सदैव साथ में रखूंगा। तुम अब मेरे पॉकिट में रहोगें और मैंने हाथ बढ़ाया था कि... दर्पण ठहाका मार कर हंस पड़ा।'' इस उद्धरण में यदि एक ओर 'लोहा मान गया' जैसा मुहावरा प्रयुक्त हुआ है तो 'पॉकिट' जैसे अंग्रेजी शब्द भी। इससे ऊपर वाक्य–विन्यास अपनी सहजता और प्रवाह में अपने पाठक को बाँधता है।

यदि कुबेरनाथ राय तत्त्व–चर्चा करते हैं तो उनकी भाषा उस समय पूर्णतः तत्सम शब्दावली परिपूर्ण तो होती है किन्तु अग्राह्य नहीं, ''वैदिक ऋषि ने जिज्ञासा के समुद्र में, ध्यान के गहरे जल में निरंन्तर अपने को स्थित करके अचानक वह 'बोध' एक विद्युत प्रकाश सा सहजानुभूति (इन्ट्युशन) द्वारा प्राप्त कर लिया होगा। यह बोध कहां से आया ? कौन द गया ? संस्कार–प्रवाह ? ईश्वर ? इस पर मतैंक्य कभी नहीं हो सकता'' इस उद्धरण में एक भी शब्द विदेशी या देशज नहीं है किन्तु फिर भी यह भाषा पूर्णतः ग्राह्य बनी रहती है। प्रश्नोत्तर शैली में जो प्रश्न एक–एक शब्द के माध्यम से उठाया गया है – ''संस्कार प्रवाह? परंपरा ? ईश्वर ?'' यह गद्य में और विशेषतः निबंध में भाषा–शैली के स्तर पर एक बिलकुल नया प्रयोग है।

कुबेरनाथ राय की भाषा–शैली में व्यंग्य और हास्य का पुट भी प्रंसगानुसार मिलता है और ऐसे स्थलों पर उनकी भाषा–शैली और उत्फुल्ल हो जाती है। 'रस आखेटक' निबंध में वे प्रोफेसरों की कूपमंडूकता उनकी अध्ययन से उपराम हो जाने की वृत्ति पर व्यंग्य करते वे कहते है ''...इनमें पंचानवे प्रतिशत ऐसे ही हैं कि इनकी सारी बादशाहत विद्यार्थी जीवन में लिखे गए नोटों पर आश्रित है।'' इनके विपरीत वे प्रोफेसर जो वास्तविक अर्थों में अपना कर्त्तव्य कर रहना चाहते हैं, उन्हें भी कुलपति की चाटुकारिता में जिस प्रकार जीवन जीना पड़ता है, उसका भी व्यंग्यपूर्ण चित्रण निबन्धकार ने इस प्रकार किया है, हॉ, में से जो पांच असली प्रोफेसर होंगे वे जीवन भर खून के आंसू रोएंगे और शासन रावण के उस ग्यारहवें ऊर्ध्वमुख के प्रति जो उनका कुलपति बनकर अभिषिक्त होगा, उन्हें प्रतिदिन श्लोकां और अनुष्टुप छन्दों में प्रशास्ति–गान करना होगा।

''हे प्रधान मंत्री के सखा, मुख्यमंत्री के प्यारे गीत, हे प्रभु, तुम्हारी दशमुख के ग्यारहवें मुख जैसी मनोहर आकृति पर सरस्वती प्रेमासक्त है, लक्ष्मी उससे रात–दिन नज़र लड़ाती है और पार्वती तुम्हें प्रेम–पत्र भेजती है ...इत्यादि। कहना न होगा कि लेखक ने यहाँ कुलपति की नियुक्ति के सारे दंद–फंद और फिर बाद में उसकी कार्य–प्रणाली पर कितनी सटीक टिप्पणी इस व्यंग्यात्मक कथन में की है। व्यंग्य के साथ–साथ कुबेरनाथ राय हास्य का भी बड़ा शिष्ट प्रयोग अपनी निबंध–शैली में करते हैं। हास्य का ऐसा ही प्रफुल्ल वर्णन 'दर्पण विश्वासी' में 'इस प्रकार प्राप्त होता है, अपनी हजामत बनाने की क्रिया को इस

प्रकार अभिव्यक्ति दी जाती है ''तब तक मैं चेहरे पर घास सी उगी 'नूरे–खुदा' को छीलकर साफ कर चुका था और ब्लेड 'नूरे मर्द' के खेत पर सक्रिय था और कुछ ही क्षणों में बीसवीं शती के किसी कारखाने के छोटे–से मामूली शिशु, एक ब्लेड ने 'खुदा' और 'मर्द' दोनों की महिमा को काटकर फेंक दिया।'' लेखक ने ब्लेड–रेज़र से अपनी हज़ामत बनाने का इतना हास्यपूर्ण रुप दे दिया है।

व्यंग्य और हास्य से अलग हटकर कुबेरनाथ राय की शैली में एक और रोचक तत्व मिलता है जिसे वक्रोक्ति या कथन–भंगिमा कहा जा सकता है। बात चाहे अपने जन्म की हो चाहे दूब जैसे छोटी–सी चीज़ का परिचय देने की, निबंधकार अपनी वक्रोक्तिपूर्ण शैली से उसे सरस बना देता है। ऐसे स्थलों पर न व्यंग्य है, न हास्य अपितु कथन–वचन–भंगिमा सहसा ही मन मोह लेती है। अपने जन्म और परिवेश को लेखक इस प्रकार व्यक्त करता है कुछ वर्ष हुए मैंने इस धरती पर घास पात की तरह जन्म लिया था बिना किसी तरह की असाधरणता का सौभाग्य मुकुट पहने मणि प्रवालों के परिवेश से आते दूर एंव उनके बीच जो गेहूं, जौ, ज्वार–बाजरा की खेती से कहीं अधिक मन लगा कर नामंदतों, विषंदतो की खेती किया करते हैं। यो अपने हिन्दुस्तानी के हिसाब में घास–पात की तरह जन्म लेना कोई बेइज्ज़ती की बात नहीं है। इसी प्रकार दूब घास का परिचय देते हुए लेखक सामान्य से शब्दों में बहुत बड़ी बात कह जाता है। ''यह एक से एक बेहया घासों की हरीतिमा नहीं जानती। जीवन कितना हठी है और मृत्यु कितनी पराजित, लाचार और दीन!'' यह कोई हिन्दुस्तानी हरीतिमा से सीखे। इन सब बेहया घासों में सबसे मामूली, सबसे पददलित और उत्पीड़ित, पर सबसे इज्ज़तदार है, हरी–हरी दूब।'' कहना न होगा कि दूब–दूर्वा का ऐसा मानवीकरण कर कथन को तो आकर्षक बनाया ही गया है, लेखक ने अपनी भाषा–शैली को एक बिलकुल नयी धरा प्रदान कर दी है।

प्रकृति–चित्रण के संदर्भ में कुबेरनाथ राय की भाषा–शैली और भी प्रांजल, ललित और सरस हो उठती है। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों और क्रिया–कलापों को जब मानवीकृत किया गया है। तो उनकी भाषा का सौंदर्य देखते ही बनता है, ''...दिवस दैत्य–सा मुँह बना कर, जीभ निकाल कर आग फेंक रहा है। दिवस के भीतर वास करने वाले वैरागी पुरुष ने अपनी अग्नि–जटा को खोल दिया है। उसके केशों की लपटें अंतरिक्ष में उसके मुखमंडल के चारों ओर उड़ रही है और वह अपनी ब्रह्मचारिणी वधू पश्चिमा के साथ सृष्टि में मध्यान्हवेहला में, त्रिपुर की वेला में, अंतरिक्ष विहार कर रही है।''

इस प्रकृति–चित्रण की एक और विशेषता कुबेरनाथ राय की भाषा–शैली में प्राप्त होती है। वह है बिम्बात्मकता। पूरे दृश्य का ऐसा बिम्बांकन किया गया है कि वह दृश्यबंध अपनी पूरी छवि में पाठक मन में उतरता चला जाता है। ऐसे उदाहरण प्रत्येक निबंध में देखे जा सकते हैं। 'कवि, तेरा भोर आ गया।' निबंध में प्रातः काल का वर्णन निबंधकार ने ऐसी ही काव्यात्मक और बिम्बात्मक शैली में किया है, भोर के

धीरे–धीरे आगे सरकने, सूरज के पल–प्रति–पल ऊपर चढ़ने के सौंदर्य को कवि इतने बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत करता है, ''पांच मिनट तक लोहे और भाप की स्वर–सेना समाप्त हो जायेगी। पर दस या पन्द्रह मिनट बाद ही सारा बाग जग जाएगा और सृष्टि के स्वरों के असंख्य इन्द्रधनुष इस अगली रात के नीलारूण केशों में उलझ जाएंगे। अंत में किरण का पहला प्रस्फुटन होगा और मोह रात्रि को काटती हुई आसमान में कबीर की कविता जैसी लालिमा दहकने लगेगी और फिर धीरे–धीरे वह किरण अपना विस्तार करके तुलसी के यश जैसी धूप बन कर धरती पर फैल जाएगी पर सुकवि के उस धूप काव्य लिखे जाने में घण्टों की देर है।'' इस प्रकार के बिम्ब–विधान में निबंधकार अनुकरणात्मक शब्दावली का प्रयोग कर अपने बिम्बों को और भी जीवंत रूप दे देता है। तन्द्रा में घिरे आदमी को रेल के गुज़रने का आभास कैसे होता है, इसका परिचय अनुकरणात्मक शब्दों के माध्यम से ही दिया गया है, ''तभी रेलगाड़ी के चक्के का पन्द्रह मात्रावाला अनुशासित छंद'' छक–छका–छक! छक–छक! छक–छक!'' क्रमशः निकट आने लगता है और साथ ही इस क्लासिकल अनुशासित छंदोबद्ध लौह–कविता को काटता हुआ पास के शीशम–कुंजों और वाँस–वन से विविध वन पक्षियों का छंद मुक्त रोमांटिक स्वर भी उठता है।'' रेलगाड़ी की स्वर–लहरी को पंद्रह मात्रा का छंद कहना और 'छक–छक' की ध्वनि को मूर्त करना, इतना चित्रात्मक वर्णन उपस्थित कर देता है कि भाषा के इस रूप पर मुग्ध ही हुआ जा सकता है।

इतना परिनिष्ठत गद्य लिखते हुए भी कुबेरनाथ राय अपने ग्राम–प्रांतर के भाषा संस्कार से पूरी तरह जुड़े हुए हैं। माघ मास की ठंड का वर्णन गाँव–जहान में किस प्रकार किया जाता था, इसके कई उदाहरण 'जन्मान्तर के धूम्र–सोपान' निबंध में उपस्थित हैं। ''ससुरा आठ बजे से ही सीला पड़ने लगता है।'' ऐसी ही रातों में कभी–कभी बूढ़े राम नरेश मिस्त्री रजाई में दुबककर करवट लेते हुए कहते हैं : ''उंगलियां बाहर निकलने पर फूटने लगती हैं। माघ की रात क्या है, अफीम है अफीम।'' इस वर्णन में आगे मिस्त्री कहता है, ''यही माघ रात है जब जवानी में कलेजे के भीतर बोरसी जलती थी।'' ऐसे मुहावरे, ऐसी लोकोक्तियाँ कुबेरनाथ राय के संस्कृत–गर्भित गद्य को एक नयी शैली प्रदान करते हैं। ये उदाहरण उनकी लोक–जीवन में गहरी पैठ का भी परिय देते हैं कि किस प्रकार वहां की रहन और सहन को वे उचित शब्द दे सके हैं। ऐसे कुछ उदाहरण –

– ''माघी बेटा और माघी ईंटा दोनों लाल–लाल निकलते हैं, ताज़ा और तंदरुस्त ! इन्हें माघ में ही पाथना–पथवाना चाहिए।''

– ''ससुर मोर को अंगूर खट्टे और साँप मीठे। क्या दुनिया है ! अपना–अपना सवाद !''

– ''कई मुहावरों का सगुण और साक्षात् अर्थ उन्हीं की संगीत में स्पष्ट हुआ, जैसे 'खोआ कूटना', 'फड़ पर चढ़ना', 'मामले का खरसान पर चढ़ना' आदि। ... इसी तरह के अने सुभाषित पूरे मास–भर सुनता रहा।''

लेखक ने इन सुभाषितों को यथावत् अपना कर अपनी भाषा–शैली को एक सहज़ता, सरलता और लोक से जुड़ाव के गुण प्रदान किए हैं।

अपनी भाषा–शैली को स्वाभाविकता का रंग देने के लिए निबंधों के बीच–बीच में संवादों की भी नियोजना की गयी है। पात्रानुकूल रचे गए इन संवादों द्वारा निबंधों में एक नाटकीयता और रस का संचार होता है। 'मृगशिरा' शीर्षक निबंध में एक घड़ी रात गए किसी भी बाग में चार–पाँच स्वर बोल रहे होंगे का वर्णन किया गया है और फिर लगभग ढाई पृष्ठों तक इन्हीं चार–पाँच स्वरों की संवाद–संरचना है, एक उदाहरण –

''देखो हो ! मैंने ग्राम–सेवा जी से बोरिंग के लिए कहा तो उन्होंने बी. डी. ओ. के यहाँ रूपया जमा करवा दिया। पर साल–भर हुआ वह सुन ही नहीं रहा है।''

''यार, सब कमीने हैं। हमें सरकारी ग्रांट मिली तो यह कहने लगा कि रुपया नकद न लेकर अमुक कम्पनी का सामान ही लो। साला सड़ा–सा माल लूँ मैं और कमीशन बनाए ये ससुर ! ...मैंने घोर विरोध किया। अंत में बड़ा–बड़ा पेंच लगाया तो रुपया बरामद हुआ।''

इन संवादों में शब्द–चयन की स्वभाविकता तो देखते ही बनती है जैसे – 'लकड़ पेंच लगाया', आदि संवादों को पूरी नाटकीयता का संस्पर्श दिया गया हैं, पूरे रंग–संकेत के साथ। कोष्ठक में बीच–बीच में ऐसे रंग–संकेत है (एक असहाय चुप्पी) ! मौन, मौन, मौन !''

निबंधकार ने पूर्ण उन्मुक्त भाव से अपनी भाषा–शैली में संस्कृत के श्लोकों, हिंदी के काव्याशों, उर्दू के शेर, बौद्धों के चर्चा गान, 'घाघ' की उक्तियाँ सभी का उपयोग किया है उनके एक ही निबंध 'मृगाशिरा में घाघ की उक्ति से लेकर उपरिनिर्दिष्ट सभी के उद्धरण मिल जाएँगे।

सभी दृष्टियों से कुबेरनाथ राय की भाषा–शैली अत्यंत वैभवशाली और हिंदी के लिए गौरवपूर्ण है। फिर भी उन पर कभी–कभी यह दोष मंडित किया जाता रहा है कि उनकी भाषा कुछ दुरुह और अग्रह्य है। इस आक्षेप का उत्तर उन्होंने कई जगह दिया है, विशेषतः 'मराल' की भूमिका 'अपनी बात' और इसी में अपनी टिप्पणी 'अपने लेखन के बारे में।' उन्हें यह क्षोभ था कि लोग उनकी भाषा को दुरुह क्यों बताते हैं, मेरी भाषा के बारे में लोगों की आपत्तियाँ हैं कि मैं ऐसे शब्दों का यदा–कदा प्रयोग करता हूँ जो आम आदमी या आम शिक्षित जन की जानकारी के बाहर होते हैं। मेरा निवेदन है कि ऐसे शब्द मेरे पूरे लेखन में, दो सौ से समधिक निबंधों में, दो तीन दर्जन से ज्यादा नहीं ऐसा जहाँ–जहाँ मैंने किया है, सचेत और सकारण ढंग से किया है।... दिक्कत हमारे लेखन में नहीं है। दिक्कत है नवशिक्षित की भाषागत दरिद्रता के भीतर। मेरा उद्देश्य रहा है पाठक के चित को एक परिमार्जित भव्यता देना और साथ ही उसकी

चित्त–वृत्ति का विस्तार करना।'' समय की मांग है कि हिंदी के पाठक और अध्यापक हिंदी के महाकोश' से जो धीरे–धीरे विकसित हो रहा है, परिचित होने की चेष्टा करें।'' कुबेरनाथ राय का यह कथन उनकी भाषा पर लगे आक्षेप का सहज ही निराकरण कर देता है। उनकी चिंता थी कि भाषा के संदर्भ में भी हिंदी का पाठक एक प्रकार की कूप मंडूकता का शिकार है। उनका कथन है, ''दिक्कत यहाँ पर है हिंदी–साहित्य का विद्यार्थी बौद्धिक संस्कृति से जुड़े अन्य क्षेत्रों यथा भारतीय आयुर्वेद, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, प्राचीन नौका–नयन व्यापकार की शब्दावली से सर्वथा अपरिचित रहता है। दूसरी ओर लोहार, सोनार, बढ़ई, माँझी और हलवाहे की तकनीकी शब्दावली से अपने शहरी परिवेश के कारण विच्छिन्न है। फलतः हिंदी का 'महाकोश' जब अतीत में या वर्तमान के लोक–स्तर में हाथ पाँव फैलाता है तो वह अजनबी लग्त में चला जाता है (मराल संग्रह का भूमिका से)। उनका दृढ़ मत था कि बहुत से पुराने शब्द हैं जो आज परिचित हो लेते हैं किन्तु उनका परिचय देना नितांत आवश्यक है उनका तो उद्देश्य ही यह था, ''मैंने अपनी क्षुद्र सामर्थ्य में जो कुछ किया हैं वह पाइक की भाषिक क्षमता को समृद्ध करने और उसे अपनी देशी भाषिक संस्कृति से मूल–सलंगन करने की दृष्टि से ही किया है।

10.4 सारांश

कुबेरनाथ राय के इस स्पष्टीकरण और हमारे ऊपर विवेचन से यह सिद्ध है कि उनकी भाषा कठिन नहीं है अपितु वह एक विशेष संस्कारयुक्त भाषा है। वे भाषा–शैली की दृष्टि से हिंदी गद्य सर्वाधिक समर्थ लेखकों में से एक है।

10.5 कठिन शब्द

1. मिथकीय	2. बुद्धिजीवी
3. पुनरूक्ति	4. सहजानुभूति
5. चाटुकारिता	6. अभिशक्ति
7. संस्पर्श	8. सुभाषित

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

– भाषा और शैली के अर्थ पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

– भाषा एवं शैली का निबंध लेखन में महत्व स्थापित करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

– कुबेरनाथ राय के निबंधों की भाषा–शैली पर विस्तार से विचार करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय – डॉ० सुरेश महेश्वरी
2. कुबेरनाथ राय के निबन्धों में ललित तत्व – डॉ० अशोक
3. कुबेरनाथ राय और उनका साहित्य – अमिता सिंह
4. हिन्दी साहित्य में निबन्ध और निबन्धकार – गंगा प्रसाद गुप्त बइसैया
5. हिन्दी निबन्ध – गणपति चन्द्र गुप्त
6. हिन्दी निबन्ध का विकास – डॉ. ओंकार नाथ शर्मा
7. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य – डॉ. हरदयाल
8. सामाजिक हिन्दी निबन्ध – डॉ. ज्ञानेन्द्र वर्मा
9. हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार – द्वारिका प्रसाद सक्सेना

.....

प्रभाववादी आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी

11.0 रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 प्रभाववादी आलोचक : हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

11.4 सारांश

11.5 कठिन शब्द

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.1 उद्देश्य

1. प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप जान पाएंगे कि हज़ारी प्रसाद द्विवेदी प्रख्यात निबन्धकार, इतिहास लेखक, अन्वेषक, आलोचक संपादक तथा उपन्यासकार थे।
2. आप इस तथ्य से भी अवगत होंगे कि हज़ारी प्रसाद द्विवेदी एक कुशल वक्ता के साथ–साथ सफल अध्यापक भी थे।

11.2 प्रस्तावना

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी आलोचक के साथ–साथ निबन्धकार व उपन्यासकार के रूप में हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। उनका नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ लिया जाता है। उनकी लेखकी व्यक्तितत्व के दो रूप सामने आते हैं–ज्योतिष से आचार्य, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जानकार, ज्ञानी खोजी संस्कृत में प्रकांड पंडित। इस आलेख में आप द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और उनके आलोचक रूप को समझ पाएंगे।

11.3 प्रभाववादी आलोचक : हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी आलोचना में युग पुरुष के रूप में स्मरण किए जाते हैं। अपनी नवीन चिंतन प्रणाली और सूक्ष्म विश्लेषणावृत्ति से उन्होंने हिन्दी आलोचना को नई दिशा और दशा प्रदान की। उनकी मौलिक उद्‌भावनाएँ और स्थापनाएँ हिन्दी आलोचना की विशिष्ट पहचान है। द्विवेदी जी से पूर्व आलोचना के क्षेत्र में इतिहास–लेखन और साहित्य विवेचन का कार्य विदेशियों ने आरंभ किया। किन्तु इससे भी पूर्व साहित्यलोचन की भारतीय काव्य शास्त्रीय समृद्ध परम्परा उपस्थित थी। जिसमें रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, औचित्य और वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। जहाँ तक हिन्दी का संदर्भ है हिन्दी साहित्य में आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक आलोचना का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। यद्यपि रीतिकाल के अनेक आचार्य कवियों ने हिन्दी में संस्कृत काव्य–शास्त्र का निरूपण किया। उस समय इन आचार्य कवियों का उद्देश्य कवियों को काव्यशास्त्र की शिक्षा देना था। इसी आधार पर काव्य कवि और शास्त्र कवि सामने आए। रीतिकाल में संस्कृत के रस, अलंकार, ध्वनि इत्यादि का सूक्ष्म विवेचन हुआ। हिन्दी साहित्य का रीति काल इस दृष्टि से समृद्धतम काल है। परन्तु नाटक की गौरवशाली संस्कृत परम्परा इसी काल में लुप्तप्राय भी हो गई है। यद्यपि यह काल साहित्य, कला और शिल्प के उच्चतम शिखरों का काल है परन्तु आलोचना का विधिवत् और व्यवस्थित विकास इस काल तक भी नहीं हो पाया था।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से पूर्व भारतेन्दु युग में भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने काव्य, काव्यांग और काव्य हेतु पर गहन विमर्श कर स्वतन्त्र, मौलिक और नवीन उद्‌भावनाएँ की और आलोचना की दिशा में विधिवत् पर्दापण किया। भारतेन्दु और युगीन चिंतकों ने संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा का अनुसरण नहीं किया और निम्नलिखित छः दिशाओं में आलोचना का विकास किया:

1. परम्परावादी, 2. नवीनतावदी, 3. समन्वयवादी, 4. पुनरुत्थानवादी, 5. रसवादी, 6. स्वच्छन्दतावादी

द्विवेदी जी को विरासत में जहाँ रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा प्राप्त हुई वहीं जार्ज ग्रियर्सन, एफ.ई.की.एम.एस. ग्राउज, कारपेंटर और गार्सा–द–तासी इत्यादि पश्चिमी विद्वानों द्वारा स्थापित विचार कि ''साहित्य में जीवन और उसके आदर्शों की प्रतिष्ठा ही सर्वश्रेष्ठ है। जिसमें मानव के नैतिक मूल्यों का महत्त्व अश्रुण्ण है'' से नवीन धारा का उन्मेश किया। साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब मानने वाले ये आलोचक साहित्य को समाज सापेक्ष मानते थे। इन आलोचकों ने काव्य का संबंध लौकिकता से जोड़ा। पश्चिम विद्वानों को तुलसी के राम इसीलिए प्रिय लगे क्योंकि वे कहीं भी लौकिकता का आधार नहीं छोड़ते। जीवन के नैतिक मूल्यों की स्थापना करने वाले साहित्य को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले ये चिंतक आलोचना के भी उसी रूप को सर्वोत्कृष्ट मानते थे जिसमें इन नैतिक मूल्यों का महत्त्व मानवीय धरातल

पर उद्घाटित किया गया हो। ये अंग्रेज़ी और फ्रेंच चिंतक 'कला कला के लिए है' सिद्धांत के विरोधी थे और उसी साहित्य तथा आलोचना के समर्थक थे जो मानवीय जीवन की नीतिपरकता को अनेकरूपता और व्यापकता में प्रस्तुत करे।

आधुनिक काल के भारतेन्दु युग में काव्य–शास्त्रीय परम्परा का अनुपालन एक भिन्न धरातल पर हुआ। भारतेन्दु युगीन चिंतकों ने साहित्य को 'जन–समूह के हृदय का विकास' मानते हुए साहित्य की विकासशील भूमिका को रेखांकित किया। इन चिंतकों ने आलोचना को युगानुरूप प्राचीन और नवीन विचारधाराओं का समर्थन करके पुनरुत्थानवादी रूप में प्रस्तुत किया। काव्य के लिए यद्यपि काव्यशास्त्रीय आधार ही अपनाए गए तो नईं गद्य विधाओं के लिए पश्चिमी काव्य सिद्धांतों का समन्वयकारी रूप प्रस्तुत किया गया।

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य नवीन वैज्ञानिक क्रांति और पाश्चात्य सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित होकर नवीन दिशा की ओर बढ़ने लगा था। इसलिए भारतेन्दु युगीन आलोचना भी समाज सापेक्षता, नैतिकता और उपयोगिता पर बल देती थी।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी पूर्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आलोचना के क्षेत्र में धूमकेतु की तरह उदित हुए। वे अपने युग के प्रखर चिंतक थे। काव्य सृजन में वे सहजता के पक्षधर थे और उनका मानना था कि जो साहित्य सामाजिक मर्यादाओं पर खरा नहीं उतरता, वह सत्साहित्य नहीं होता। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी मूलतः सिद्धांतवादी संपादक और भाषा शिल्पी थे। उनकी आलोचना भारतेन्दु युगीन आलोचकों की ही भाँति पुनरुत्थानवादी थी परन्तु उनकी सैद्धांतिक और व्यवहारिक समीक्षाएँ परम्परावादी सिद्धांतों पर आधारित थी। उन्होंने पाश्चात्य सिद्धांतों एवं साहित्य के प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिए परम्परावादी सिद्धांतों का समर्थन किया। द्विवेदी युग के दूसरे प्रमुख आलोचक मिश्रबंधुओं ने रचनाकारों का विभाजन करते हुए उनकी काव्यगत विशेषताओं को रेखांकित किया। यहीं उन्होंने बिहारी की अपेक्षा देव के महत्त्व को स्थापित करते हुए तुलनात्मक आलोचना की आधारशिला रखी। मिश्रबंधुओं का दृष्टिकोण उदार और आधुनिक था परन्तु उनके काव्य संस्कार निर्माण में रीतिकालीन विचारधारा का बहुत बड़ा हाथ था। मिश्रबंधुओं की आलोचना कृति आधारित थी। द्विवेदी युग मुख्यतः आलोचना के गुण दोष विवेचन और तुलनात्मकता रेखांकित करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पूर्व हिन्दी आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सबसे समर्थ, प्रतिभावान एवं वैदुष्य–पाण्डित्य परिपूर्ण व्यक्तित्व हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना में छाई धुंध को साफ करते हुए हिन्दी आलोचना को चरमोपलब्धियों तक पहुँचाया। आलोचना के क्षेत्र में जब शुक्ल जी का आगमन हुआ उस समय तक रीतिकाव्य का प्रभाव लगभग समाप्त हो चुका था। हिन्दी कविता खड़ी बोली के नए

तेवर के साथ उपस्थित थी जिसे शुक्ल जी ने समझा और उसे सार्थक बनाया। आचार्य शुक्ल का सैद्धांतिक समीक्षा–ग्रंथ 'रस–मीमांसा' है और उनके व्यावहारिक आलोचना ग्रंथों में 'त्रिवेणी' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रमुख रूप से चर्चित हैं। शुक्ल जी ने रसवाद को सैद्धांतिक आधार बनाते हुए काव्य–विषय के महत्व का ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भाव सत्ता को अवस्थित किया। उनका यह सिद्धांत जीवन, काव्य और आलोचना तीनों में समान्वित रूप से अवलोकित होता है यथा जीवन का क्रिया पक्ष, काव्य का भाव पक्ष और आलोचना का विचार पक्ष। शुक्ल जी ने भारतीय 'रसवाद' के अनुरूप जितने समीक्षा सिद्धांत मिले उन सबका अनुप्रवेश अपनी आलोचनाओं में किया है। सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति को एक ही मानने वाले शुक्ल जी ने एवरक्रोम्बी के प्रेषणीयता के सिद्धांत, एडिसन और कॉलरिज के भाव–प्रेरित कल्पनाद, रिर्चड्स के सामान्यीकृत अनुभूतिवाद, कल्पनात्मक अनुभूतिवाद को अपने रस सिद्धांत में प्रश्रय दिया। दूसरी तरफ उन्होंने रहस्यवाद, व्यक्ति वैचित्र्यवाद, प्रतीकवाद, कलावाद, छायावाद, अभिव्यंजनावाद, आदर्शवाद इत्यादि का घोर विरोध किया। शुक्ल जी ने अप्रस्तुत विधान पर अधिकाधिक विश्वास करने वाले वादों और विचारों के विरोधी थे क्योंकि उनका विश्वास था कि इससे प्रस्तुत गौण पड़ जाता है।

शुक्ल जी ने 'रसवाद' की परम्परागत आध्यात्मिक भूमिका को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया और उसे युगानुरूप परिभाषित करने का प्रयास किया। शुक्ल जी ने स्पष्ट कहा कि ''हमें दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य की परख नहीं करनी चाहिए, अपितु अपने दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य का अवलोकन करते हुए अपने साहित्य की समीक्षा करना चाहिए।'' अपनी दृष्टि से उनका अभिप्राय भारतीय दृष्टि ही है। सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भाव सत्ता को स्वीकार करने वाले शुक्ल जी की समस्त आलोचना का आधार काव्यात्मक लोकवाद है जो विशुद्ध काव्यात्मक भाव संवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव–सत्ता का आग्रही है। उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति का मूलाधार लोकानुभूति ही होती है। आनंद विधान के लिए लोक से बाहर जाने को शुक्ल जी ने पलायन माना। शुक्ल जी ने साहित्य को जनता की चित्तवृतियों का संचित प्रतिबिम्ब माना और काव्य को हृदय की मुक्तावस्था रस को काव्यात्मा मानने वालो आचार्य शुक्ल अलंकार को बाह्य स्वरूप मानते हैं, रीति उनके लिए संघटना मात्र है और शरीर का अंग विन्यास है। ध्वनि को उन्होंने सिरे से नकारा और वक्रोक्ति को स्वतन्त्र रूप में निरर्थक मानते हुए केवल रसाश्रित होने पर ही सार्थक स्वीकार किया। शुक्ल जी के अनुसार औचित्य रस का रक्षक है औचित्य के अभाव में रस रसाभास की कोटि में आता है। शुक्ल जी ने विभिन्न काव्य सिद्धांतों को केवल रसानुभूति के अनुकूल होने तक ही स्वीकार किया है। शुक्ल जी से पूर्व केवल सैद्धांतिक आलोचना ही आलोचना क्षेत्र में क्रियाशील दिखाई देती है। शुक्ल जी ने पहली बार तटस्थ भाव से बहुत ही सूक्ष्म, पैनी और मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा से विस्तृत अध्ययन उपरांत सैद्धांतिक आलोचना के साथ–साथ व्यावहारिक आलोचना को व्यवस्थित

ढंग से प्रतिष्ठित किया। तुलसीदास को इसी संदर्भ में आधार मानकर शुक्ल जी ने सैद्धांतिक आलोचना के सिद्धांत प्रतिपादित किए और इन्हीं सिद्धांतों की कसौटी पर उन्होंने साहित्य को परखा।

शुक्ल जी और द्विवेदी जी ने अपनी रचनाओं में हिन्दी के कवियों, काव्यधाराओं, वादों, कालों इत्यादि पर विचारों को बहुत गहराई से चित्रित किया। साहित्य की विविध विधाओं संबंधी उनके मत सलंग्नीय हैं और पथप्रदर्शक की भूमिका निभाने वाले हैं। दोनों विद्वानों के कहीं बहुत साम्य है और कहीं दोनों शोध के बाद में निकले परिणामों के आधार पर अथवा अपने दृष्टिकोण के कारण अलग–अलग विचारों का प्रतिपादन करते भी दिखाई देते हैं। आचार्य द्विवेदी जी का मुख्य उद्देष्य आलोचना के माध्यम से साहित्य की मानवतावादी दृष्टि को रेखांकित करना था। न कि केवल सिद्धांतों को प्रतिपादन करना इसीलिए उनका अभिमत है कि ''सैद्धांतिक वाद–विवाद आवश्यक है। पर उन्हीं में उलझे रहना ठीक नहीं है। वास्तविक साहित्यिक दुनिया में क्या हो रहा है और किन कारणों से ऐसा हो रहा है, इस ओर भी हमारे आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए।''

मानवतावादी दृष्टि के पोषक, उन्नायक और प्रतिष्ठापक आचार्य द्विवेदी भारतीय आलोचना के प्रतिमानों का उल्लेख करते हैं। जैसे वे अलंकरण, सहृदय की अवधारणा व मांगल्य पर अपनी मौलिक दृष्टि से गम्भीर विचारों का प्रतिपादन करते हैं। इस दृष्टि से कालिदास की अलंकार योजना पर आपने स्थापित किया कि कालिदास अलंकारों की योजना के विषय में रंगों के सांमजस्य का बड़ा ध्यान रखते हैं। कालिदास को उन्होंने मूलतः रसाश्री अलंकारों का ही कवि बताया। इसमें तीन शारीरिक, सात अयत्नज तथा उस स्वाभाविक अलंकारों की परिगणना उन्होंने की तथा मांगल्य को प्रयोजनातीत माना। द्विवेदी जी ने सहृदय के विषय में कहा कि सहृदय वह है जो तत्वान्वेषण की बातों में नही उलझता बल्कि 'छाककर' साहित्यिकता का सौन्दर्य–रस पीता है। सौन्दर्य को द्विवेदी जी ने मानवीय स्तर माना जहाँ मनुष्य का चित्त एक जैसा है और चित्त समष्टि–मानव का है। द्विवेदी जी ने भारतीय काव्य शास्त्रीय चिंतन परम्परा पर विचार करते हुए अपनी मौलक दृष्टि से उसे और भी अधिक व्यावहारिक बनाया। उन्होंने भट्टनायक की ही तरह अन्तकरणः (मन, बुद्धि, अहंकार) एवे बाह्यकरण (मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ) के भेद को स्वीकार किया। उन्होंने सत्य को ज्ञान से, तमस को क्रिया से और रजस को इच्छा से जोड़ा। द्विवेदी जी के अनुसार छंद गतिमान है, चेतन धर्म है और रस अर्थ या अनुभूति का विषय न होकर रस को स्वयं अनुभूति माना है।

द्विवेदी जी ने उपर्युक्त के आधार पर भारतीय काव्य शास्त्रीय प्रतिमानों को अपनी मौलिक दृष्टि से और भी व्यावहारिक बनाने का सतुत्त कार्य किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मौलिक चिंतन दृष्टि से ही 'मनुष्य साहित्य का लक्ष्य है' विचार उभरा और उन्होंने स्पष्ट रूप से स्थापित किया कि 'मनुष्य ही मुख्य है; बाकी सब बातें गौण। अलंकार, छंद, रस का अध्ययन मनुष्य को समझने के साधन हैं। वे स्वतः अपने आप में कोई स्वतन्त्र चरम मान नहीं है' द्विवेदी जी मानवता के पुजारी थे और उनके लिए वह साहित्य निरर्थक था जो मानव भाव के कल्याण की भावना से परिपूर्ण न हो। उन्होंने मध्ययुग के अध्यात्म को वर्तमान युग का मनुष्यत्व कहा। द्विवेदी जी उस साहित्य को, उस शास्त्र को, उस रसग्रंथ को, उस कला को, उस नृत्य को, उस राजनीति, उस समाज सुधार को और यहाँ तक कि वह पूजा पार्वण को निरर्थक मानते हैं जिसमें मनुष्य को सुखी बनाने का उपक्रम न हो। किन्तु साहित्य के इस महत्त्व उद्देष्य को उद्‌घाटित करने के लिए द्विवेदी जी ने मनुष्य की 'बुद्धि' को आधार बनाया और इसी के आधार पर तटस्थ रहकर साहित्यालोचन पर बल दिया। आलोचना की आदर्श प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वे संतुलित दृष्टि अपनाने पर बल देते हैं, ''किसी वस्तु धर्म या क्रिया के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिए उसे अपने अनुराग–विराग या ईर्श्या–द्वेश के साथ सान नहीं देना चाहिए, बल्कि देखना चाहिए कि वह वस्तु, धर्म या क्रिया देखने वाले भी अपने आप में क्या है।''

द्विवेदी जी की यह मौलिक, तटस्थ नीर–क्षीर विवेकिनी विचारधारा ही उन्हें हिन्दी आलोचना में एक विलक्षण व्यक्तित्व सिद्ध करती हैं। उन्होंने आलोचना का कार्य केवल व्याख्या ही नहीं माना बल्कि उसका मूल्यांकन करना भी माना। इसलिए उन्होंने मूल्यांकन के लिए ऐसी संतुलित दृष्टि की अपेक्षा की जो अतिवादियों के बीच एक मध्यम मार्ग न खोजती फिरती हो बल्कि अतिवादियों की आवेग तरल विचारधारा का शिकार न हो। नामवर सिंह का भी मानना है कि काव्य–चर्चा उनके लिए जीवन–महोत्सव है। वे काव्य चर्चा नहीं करते, उत्सव मनाते हैं। मुक्त, अकुण्ठ। द्विवेदी जी एक शब्द की चीरफाड़ नहीं करते बल्कि सार्थक शब्द का प्रयोग ऐसे करते हैं कि संदर्भ के आलोक में शब्द स्वयं जगमगा उठता है और यहीं द्विवेदी जी पुनः अपनी स्वतंत्र, मौलिक आलोचना पद्धति के प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं। यह पद्धति है कृति को स्वायत्त मानने की, स्वतन्त्र समझने की। कृति की अर्थात् रचना की विशिष्टता रचना के भीतर ही ढूंढने की पद्धति वास्तव मे रचना को विशिष्टता प्रदान करती है। जिससे रचना में सिद्धांतों को नहीं ढूँढा जाता बल्कि उसका पूर्वाग्रहहीन अवलोकन किया जाता है। यहाँ यह रेखांकित करना आवश्यक होगा कि इसी सिद्धांत पर द्विवेदी जी ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अप्रतिम रचनाकार सिद्ध किया और वाणी का डिक्टेटर सिद्ध किया। जबकि इससे पूर्व आचार्य शुक्ल जी ने तुलसी के काव्य आदर्शों पर कसकर कबीर को नकार दिया था। द्विवेदी जी ने वास्तव में अपनी मानवतावादी दृष्टि से ही इन कवियों का मूल्यांकन कर साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की संभावनाओं की ओर संकेत कर आलोचना के नवीन मानदण्ड स्थापित किए।

द्विवेदी जी ने प्रतिष्ठित साहित्य से हटकर लोक साहित्य पर भी विचार किया और लोक साहित्य को साहित्य की संजीवनी माना। पण्डिताई के स्थान पर आपने सहजता, सरलता और नैसर्गिकता पर बल दिया। कबीर इसीलिए उन्हें प्रिय हैं क्योंकि कबीर की अनुभूति उस समाज सापेक्ष है जहाँ धर्म, वर्ण, जाति और ऊँच–नीच के भेद से परे जाकर मनुष्य को मात्र मनुष्य समझने की परिकल्पना दिखाई देती है। यही द्विवेदी जी की आलोचना का भी सशक्त आधार है। इस प्रकार की भावना से रचा गया साहित्य लोकोन्मुखी होता है। ऐसा लोक जो समाज का अविभाज्य और महत्त्वपूर्ण अंग है। वह लोक जो वास्तविक समाज का सर्जक है जिसमें यांत्रिकता नहीं है, बनावटीपन नहीं है। बल्कि जो अपनी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों, असफलताओं और विफलताओं तथा गुण–दोषों सहित उपस्थित रहता है। सूरदास भी शास्त्र के मोह से मुक्त थे प्रेम को परम पुरुषार्थ मानने वाले द्विवेदी जी मानते थे कि भक्ति के बिना शास्त्र ज्ञान और पाण्डित्य व्यर्थ है। सूर ने शास्त्र से भी ऊपर ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा की जिसके मूल में प्रेम है। इसी प्रेम को उन्होंने लोक की सर्वहितकारिणी शक्ति स्वीकार किया है। प्रेम की यह अक्षय निधि सूर की मासूम और भोली बालाओं के पास है। सूरदास पर विचार करते हुए द्विवेदी जी इसी लोक की महिमा को रेखांकित करते हैं कि सूरदास ने भी सामान्य लोक को ही अपनी कृतियों में जीवंत रूप प्रदान किया और उसे जाति–पाति की श्रेणियों में विभक्त कर संप्रदायों या वादों में बाँधने का कड़ा विरोध किया। कबीर के साथ–साथ सूरदास का साहित्य लोकजीवन का, उनके दैनिक आम क्रिया कलाप का विशिष्ट वर्णन है जिसका आधार लोक जीवन है, आचार लोक जीवन है और प्राण लोक जीवन है। सूरदास के लोकपक्ष का चित्रण करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं, ''लोक जीवन ही 'सूरसागर' की लीलाओं की मुख्य सामग्री है – बिसातिन, दही बेचने वाले, नट–बाज़ीगर, मेला, पनघट आदि के प्रसंग में सूरदास की वाणी सहस्त्र सुरों में मुखरित हो जाती है। टोना–टोटका, मंत्र–जंत्र, झाड़–फूक आदि के लोक प्रचलित विश्वासों के माध्यम से रस का महास्त्रोत उमड़ पड़ा है।'' द्विवेदी जी ने अपनी विलक्षण प्रज्ञा से सूर साहित्य का ऐसा विशद विश्लेषण किया है कि साहित्येतिहास धारा में वे कृष्ण काव्य के विलक्षण कवि सिद्ध हुए हैं। सूर साहित्य के केन्द्रीय तत्त्व प्रेम और भक्ति को द्विवेदी जी ने जिस मुख्य बिन्दु से उभारा वह है सूर की लोक तत्त्व की सरल, निश्छल अभिव्यक्ति। सहजता, संप्रेषणीयता उनका मुख्य आकर्षण।

लोक के कुशल चितेरे कवियों के माध्यम से वास्तव में द्विवेदी जी ने सहजता एवं सरलता के मार्ग को ही प्रशस्त किया है। अन्य आलोचक जहाँ हिन्दी आलोचना को शास्त्रीयता, दुर्बोधता और वैचारिकता के रूक्ष पक्ष की तरफ ले जाकर दार्शनिकता का आतंक पैदा कर रहे थे वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भाव और विचार का आदर्श समन्वय प्रस्तुत किया। भाव से विभोर पाठक कब गहन विचार से भी गुज़र जाता है उसे पता ही नहीं चलता। बल्कि वे सरस भाव से बिना बोझिल किए, बिना किसी कलानंत्ता के

व्यंग्य–विनोद–हंसी–मज़ाक के माध्यम से गहरे भावों को संप्रेषित कर देते हैं। गंभीर से गंभीर विषय भी अत्यंत रोचक भाव से प्रस्तुत करना द्विवेदी जी की आलोचना का रेखांकन योग्य बिन्दु है जो उन्हें अन्य आलोचकों से अलग करता है। भावों की गहनता और गंभीरता में भी सरसता का दामन नहीं छोड़ते। मनोरंजक बातों से द्विवेदी जी अपने पाठक को विचारों की गहन गंगा में डुबकियां लगवाकर फिर सहजता से समापन करना उनका अपना तरीका है। बुद्धि, विचार, भाव का सन्तुलन द्विवेदी जी की आलोचना का अन्य विशिष्ट गुण है।

11.4 सारांश

इस प्रकार हिन्दी आलोचना के इतिहास में द्विवेदी जी अपने मानवतावादी दृश्टिकोण, सांस्कृतिक संमजसता, धीर–गंभीर चिंतन एवं नवोन्मेषकारी विचारों से एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि ने उन्हें अन्य आलोचकों से विलक्षणता और विशिष्टता प्रदान की। डॉ० नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समालोचकों की उस महान परम्परा में अन्यतम हैं, जहाँ सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की प्रतिभाओं को दुर्लभ मणिकांचन योग पाया जाता है। आचार्य द्विवेदी निस्सन्देह हिन्दी आलोचना के नए युगपुरुष हैं।

11.5 कठिन शब्द

1. चिंतन, 2. नवोन्मेष्वकारी, 3. समालोचक, 4. पुरुषार्थ, 5. पूर्वाग्रह, 6. दुर्लभ, 7. संमजसता, 8. तटस्थ, 9. मौलिकता

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न–1 प्रभाववादी आलोचक के रूप में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी पर लेख लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न–2 आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी आलोचना में युग पुरुष के रूप में स्मरण किए जाते हैं, सिद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

'आचार्य द्विवेदी के आलोचना सिद्धांत'

12.0 रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 आचार्य द्विवेदी के आलोचना सिद्धांत

12.4 सारांश

12.5 कठिन शब्द

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.1 उद्देश्य

इस आलेख के अध्ययनोपरान्त आप :

– आचार्य द्विवेदी के आलोचना सिद्धांत को समझ पाएंगे।

– आधुनिक काल में हिन्दी आलोचना का वास्तविक प्रारम्भ कहा से हुआ, इससे अवगत होंगे।

12.2 प्रस्तावना

आलोचना से तात्पर्य किसी वस्तु विषय की उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण–दोष एवं उपयुक्तता का विवेचन करना है। सामान्यतः आलोचना का अर्थ विषय वस्तु के गुण–दोष दोनों पर प्रकाश डालना है। हज़ारी प्रसाद दिवेदी का आलोचक व्यक्तित्व अन्य आलोचकों की तुलना में इसलिए विशिष्ट हो जाता है कि उनमें एक ओर आचार्या की महिमा है तो दूसरी ओर गहरी सृजनात्मक ऊर्जा चिंतन

एवं भावुकता का यह दुर्लभ संयोग विरले लेखकों में दिखाई देता है। उनका आलोचक व्यक्तित्व मूलतः जन सृजनात्मक व्यक्तित्व है जो अत्यन्त जीवंत, सरस एवं गतिशील है।

12.3 'आचार्य द्विवेदी के आलोचना सिद्धांत'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी आलोचना के कीर्तिस्तंभ हैं। आपने हिन्दी आलोचना को एक नवीन दिशा प्रदान की और मौलिक उद्‌भावनाओं की स्थापना की। आलोचना अपने व्युत्पतिपरक अर्थ में देखने के भाव से किसी वस्तु या कृति के सम्यक् मूल्यांकन से जुड़ा हुआ है। आलोचना कृति और पाठक के बीच की ऐसी शृंखला है जो कृति में छिपे भावों, विचारों एवं साभिप्रायता को पाठक तक पहुंचाने का विलक्षण कार्य करती है। बाबू श्यामसुंदर दास के अनुसार यदि साहित्य जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार कविकर्म को प्रकाश में लाना ही भावयित्री प्रतिभा अथवा आलोचक की प्रतिभा है। दूसरे शब्दों में आलोचना सृजन की पुनर्सृजना और पुनर्व्याख्या इस दृष्टि से है कि आलोचना साहित्य में रचनाकर्म का प्रत्येक दृष्टिकोण से मूल्यांकन कर उसे पाठक सुलभ बनाती है। भारत में राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में आलोचना का सूत्रपात किया जबकि यूरोप में इसका सूत्रपात यूनान से 5वीं शताब्दी में माना जाता है। प्राचीन भारतवर्ष में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि पर आधारित विचारधाराएँ थीं। पश्चिम में भी नैतिकता, सौन्दर्य विज्ञान, यथार्थ एवं रीतिवाद तथा औचित्य संबंधी अनेक विचारधाराएं प्राप्त होती हैं। वास्तव में साहित्य के विषय जैसे–जैसे परिवर्तित–परिवर्द्धित होते जाते हैं वैसे–वैसे आलोचना का वर्गीकरण बढ़ता जाता है। जीवन मूल्यों एवं कलात्मक मूल्यों के साथ मनोविज्ञान, दर्शन, इतिहास, कल्पना, विज्ञान इत्यादि से आलोचना के कई प्रकार सामने आते हैं।

आधुनिक काल में हिन्दी आलोचना का वास्तविक प्रारंभ बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' से माना जाता है। उस समय भाषा संबंधी दोशों को रेखांकित कर पुस्तक परिचय इत्यादि प्रमुख रूप से आलोचना का आभास देते थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी के कृति के दोष निदर्शन के साथ गुणों के महत्त्व को भी पहली बार महत्त्वपूर्ण बताते हुए 'कालिदास की समालोचना' प्रस्तुत की।

आलोचना गुण–दोष विवेचन से लेकर कृति के सौन्दर्य उद्‌घाटन तक और उससे भी आगे मूल्यों की निर्धारक के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इसलिए आलोचना या दायित्व और उद्देश्य इस दृष्टि से बड़ा है कि वह रचना को बोधगम्य बनाने के लिए रचना की कलात्मक अपेक्षा को पाठकों तक पहुंचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। आलोचक तटस्थ भाव से पूर्वाग्रहहीन होकर कृति का विवेकपूर्ण सम्यक् विश्लेषण करते हुए सिद्धांतों के आधार पर कृति की दुरुहता को दूर करते हुए उसे बोधगम्य बनाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी आलोचना में प्रवेश से पहले हिन्दी में ऐतिहासिक, सैद्धातिंक और व्यावहारिक आलोचना की स्थापना के साथ–साथ परिचय प्रधान, गवेषणा प्रधान, शास्त्र प्रधान, प्रभाव प्रधान और तुलना प्रधान आलोचना का स्वरूप भी विकसित हो चुका था जिन्हें महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, किशोरी लाल शर्मा, गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू श्याम सुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि विद्वानों ने समुचित दिशा प्रदान की। इनमें से चिंतन प्रधान आलोचना के सूत्रधार आचार्य शुक्ल हैं जिनके विषय में स्वयं हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मत है कि आचार्य शुक्ल जैसा गंभीर और स्वतन्त्र आलोचक हिन्दी में तो क्या दूसरी भारतीय भाषाओं में भी नहीं हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी की ही परम्परा की अगली और दृढ़ कड़ी हैं। उन्होंने शुक्ल जी की परम्परा का निर्वाह भी किया है और अपनी स्वतन्त्र, भिन्न और मौलिक मान्यताएँ भी प्रदान कीं। उनकी यही मौलिकता उन्हें शुक्ल जी से भिन्न परम्परा का आलोचक सिद्ध करती हैं। द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक आलोचना के साथ–साथ सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में भी अहम् योगदान दिया। सैद्धांतिक आलोचना के माध्यम से उपयुक्त सिद्ध करने का सफल प्रयास भी किया है। द्विवेदी जी की आलोचना की अक्षय कीर्ति का स्तम्भ उनकी निम्नलिखित कृतियाँ हैं। इन कृतियों में से अधिकांश की वर्गीकरण से भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि द्विवेदी जी ने सिद्धांतों का विवेचन जिन निबंधों में किया है वे उनके निबंध–संग्रहों में संकलित हैं। 'कालिदास की लालित्य योजना', 'कबीर', 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप', मृत्युंजय रवीन्द्र, साहित्य सहचर, साहित्य का मर्म, सूर साहित्य, हमारी साहित्यिक समस्याएँ इत्यादि। उनकी साहित्येतिहास से संबंधित कृतियों में भी आलोचना के तत्त्व विद्यमान हैं।

द्विवेदी जी के आलोचना सिद्धांत आद्यंत समाज सापेक्ष मानवतावादी हैं। उन्होंने साहित्य को न तो विशेष युग परिवेश में परिवर्तन के रूप में स्वीकार किया और न ही केवल रचनाकार के मनोभावों की अभिव्यक्ति के रूप में। उन्होंने साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति को मानव की जय यात्रा के संदर्भ में देखने का प्रयास किया। इसीलिए वे हिन्दी साहित्येतिहास का एकांगी अध्ययन–विश्लेषण करने की अपेक्षा उसके विकास की जड़ों को संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के माध्यम से खोजते हैं। हिन्दू धर्म पर विचार करते हुए द्विवेदी जी साथ–साथ अन्य समकालीन धर्मों जैसे बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ इत्यादि को भी विश्लेषित करते चलते हैं। द्विवेदी जी उद्घोषणा करते हैं कि 'हमारा परम लक्ष्य मनुष्यत्व है।'' उनका यह दृष्टिकोण आधुनिक युग से पोषित है। द्विवेदी जी मानते हैं कि मध्ययुग में जिस बात को अध्यात्म कहा करते थे वही वस्तुतः इस युग का मनुष्यत्व है। द्विवेदी जी के लिए मनुष्य ही सत्य हैं और मानवीय मूल्य सर्वोपरि। मानव, मानवता और मानवीयता के समर्थक द्विवेदी जी के लिए 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।' मानवतावाद को वैयक्तिक की अपेक्षा सामाजिकता में देखने की विशाल दृष्टि के पोषक द्विवेदी जी के अनुसार, ''व्यक्ति मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।''

साहित्य संबंधी अपने आदर्श और सिद्धांत स्थापित करते हुए द्विवेदी जी की विचारधारा इस प्राणधारा से प्रभावित है कि साहित्य शास्त्रीय नियमों का पोथा न होकर मनुष्य के उत्थान की गाथा है। उनके अनुसार, ''सैद्धान्तिक वाद विवाद आवश्यक हैं। पर उन्हीं में उलझ जाना ठीक नहीं है। वास्तविक साहित्यिक दुनिया में क्या हो रहा है और किन कारणों से ऐसा हो रहा है इस ओर भी हमारे आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए।'' समाज में व्याप्त रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता से मनुष्य का उद्धार ही साहित्य का काम है। इस महत् कार्य के लिए द्विवेदी जी ने तुच्छ संकीर्णताओं से ऊपर उठने पर बल देते हुए कहा कि जब तक व्यक्ति स्वयं इनसे ऊपर नहीं उठता तब तक वह दूसरों को ऊपर नहीं उठा सकता। इसलिए मनुष्य की सेवा करने के लिए साहित्यकार को देवता की भूमिका निभानी होगी। 'हमारी साहित्यिक समस्याएं' में उन्होंने समाज में व्याप्त इसी ऊँच–नीच, भेद–भाव को मिटाने के अपने दृष्टिकोण को समाजवाद के संदर्भ में इस प्रकार स्पष्ट किया है, ''मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आएगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों पर समाजवाद के किसी–न–किसी रूप का आधिपत्य होगा।''

द्विवेदी जी की दृष्टि में मनुष्य की सर्वोत्तम रचना साहित्य है। साहित्य ही मनुष्य की सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना का प्रकाश है। सारे मानव समाज और मानव जीवन को सुन्दर बनाने का निमित्त साहित्य है। काव्य संबंधी सिद्धांतों को द्विवेदी जी ने इसी प्रकार की सरल, स्पष्ट किन्तु उदात्तता से युक्त विचारों से प्रस्तुत किया है। काव्य क्या है इसे स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि एकत्व की अनुभूति मनुष्य की चरम मनुष्यता है। यही मनुष्यता जब उच्छलित हो उठती है तभी काव्य बनता है और काव्य ही जब तथा जगत् के अन्यान्य उपकरणों का आश्रय लेकर प्रकट होता है तो अन्य साहित्य रूपों में प्रकट होता है। अतः साहित्य मनुष्य का उच्छलित आनंद है। साहित्य द्विवेदी जी के अनुसार स्वयं साध्य न होकर साधन है।

द्विवेदी जी की मान्यता है कि साहित्य की सृष्टि सोद्देश्यतापूर्ण होती है। किन्तु यह उद्देष्य महान और उदात्त तथा गंभीर होता है। जो साहित्य मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके उसे साहित्य कहने में द्विवेदी जी संकोच करते हैं। साहित्य का लक्ष्य निर्धारित करते हुए द्विवेदी जी ने स्थापित किया कि साहित्य का लक्ष्य मानव कल्याण, भ्रातृर्भाव, उदात्त भावों की प्रतिष्ठा, समन्वयवाद है। उन्होंने मनुष्य जीवन को केन्द्र में स्थापित एवं प्रतिष्ठित करके ही साहित्य का अवलोकन किया है। विभिन्न धर्मों, जातियों, वर्णों, संप्रदायों, राष्ट्रों और वर्गों में बँटा मनुष्य, मनुष्य नहीं है बल्कि द्विवेदी जी की मानवता की अवधारणा मनुष्य को समग्र और मुक्त इकाई के रूप में स्वीकार करती है। सर्वभूत के साहित्य का लक्ष्य आत्यांतिक कल्याण की भावना से युक्त होकर संयम, त्याग, प्रेम और मर्यादा को जागृत करना है क्योंकि साहित्य का परमलक्ष्य मनुष्यत्व

है इसलिए शताब्दियों से अज्ञान, गौरवहीनता और अपमान से युक्त मनुष्यों को ज्ञान, आत्मगौरव और सम्मान प्रदान करना साहित्य का परम लक्ष्य है। साहित्य का आधार घृणा, द्वेश, भय, ग्लानि नहीं हो सकता बल्कि प्रेम, त्याग, ज्ञान के माध्यम से मनुष्य को पशुतुल्य धरातल से ऊपर उठाना ही साहित्य का मूलाधार है। द्विवेदी जी मानते हैं कि समस्त क्रियाकलापों का आधार मनुष्य है अतः उसके जीवन और जीवनदृष्टि को पशुता से ऊपर उठाकर सुख–दुःख के प्रति संवेदनशील बनाना, असामंजस्यों को दूर करके सुन्दरता का परिपाक करना, कुरुपता और भद्देपन को मिटाकर सौन्दर्य के माध्यम से सामंजस्य करना ही साहित्य का आत्यतिक प्रकार्य है। मनुष्य के जीवन में सामंजस्य संयम से ही उपस्थित होता है जो सुन्दरता का नियामक है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवतावाद, सौन्दर्य, कल्याण, संयम, मर्यादा और प्रेम के अपने विलक्षण विचारों से वास्तव में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की ही स्थापना करते हैं। द्विवेदी जी भारतीय जीवन मूल्यों के अमर गायक हैं। द्विवेदी जी ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के दिग्दर्शन में कहा कि नैतिक उत्थान से ही समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण संभव है। जिसमें वे अपने प्रगतिशील चेतना का परिचय भी देते हैं। मनुष्य के उत्थान मात्र के लिए वे साहित्य और संगीत को, कला और सौन्दर्य को महत्त्व देते हैं और मानते हैं कि सभ्यता और संस्कृति के रक्षार्थ मनुष्य धर्म की उपेक्षा न करे किन्तु साहित्य की सबसे बड़ी समस्या ही मानव जीवन है। जैसे समाज में अन्य अनेक कार्य मानव जीवन के सुख, शांति, समृद्धिमय बनाने के लिए किए जाते हैं वैसे ही दस अन्य भले कामों के समान ही साहित्य का लक्ष्य भी मानव जीवन को सुखी, मंगलमय, कल्याणमय, हितकारी और परोपकारी बनाना है। कितना उदात्त है साहित्य का उद्देश्य साहित्य निरी कोरी भावुकता या कल्पना न होकर भौतिक प्रयत्नों से भिन्न एक सांस्कृतिक वस्तु है यद्यपि वे कहते हैं, ''वह शास्त्र, वह रसग्रंथ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज सुधार और पूजा–पार्वण जजालमात्र हैं जिनसे मनुष्य का भला न होता है।'' किन्तु साथ ही स्पष्ट भी करते हैं– ''प्रयोजन जहाँ समाप्त हो जाता है वहीं कला शुरू होती है।'' द्विवेदी जी की दृष्टि में साहित्य के केन्द्र में मनुष्य है और साहित्य के समस्त प्रयत्न मानवता को उज्जवल बनाने वाले हैं। साहित्य प्रकाश है, साहित्य क्षुद्रता से विशालता की ओर, संकीर्णता से व्यापकता की ओर ले जाने वाला है। साहित्य मनुष्य को विवेकपूर्ण, सहृदय एवं उदार बनाने वाला है। ''कला कला के लिए है, साहित्य साहित्य के लिए–इनका कोई और प्रयोजन नहीं'' – पर द्विवेदी जी स्पष्टता से कहते हैं कि केवल बौद्धिक जंजाल ही साहित्य नहीं है और न ही ऐसा साहित्य साहित्य है जो केवल रुढ़ियों और नियमों के आधार पर रचा जाए। लेखक समाज में क्या हो रहा है ? क्यों हो रहा है ? कैसे हो रहा है ? से परे होकर केवल साहित्य सृजन में लीन रहे यह द्विवेदी जी को स्वीकार्य नहीं है। केवल रस सर्जना ही लेखक का उद्देष्य नहीं होना चाहिए बल्कि उसका सीधा और प्रत्यक्ष आधार समाज और मनुष्य अर्थात् व्यष्टि ओर समष्टि हो जो साहित्य समाज के लिए प्रतिबद्ध नहीं

वह शून्य है। द्विवेदी जी के अनुसार, ''सामाजिक कर्त्तव्यों से विच्युत लिखाई अपना प्रतिवाद आप ही है।'' केवल रसपरक साहित्य ही साहित्य नहीं है। स्वान्तः सुखाय रचनाओं का मूल्य क्या है ? इस पर द्विवदी जी प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। रसात्मक साहित्य के लिए वे शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक आधार की आवश्यकता पर बल देते हैं।

द्विवेदी जी ने साहित्य संबंधी अवधारणाओं में आधुनिक युग के प्रभाव को आत्मसात किया और इसे मध्यकालीन मान्यताओं से स्पष्टतः अलग बताया। मध्यकाल के मानवतावाद को नवीन मानवतावाद से अलग करते हुए उन्होंने कहा कि नवीन मानवतावादी विश्वास ऐहिक दृष्टि, मनुष्य के मूल्य और मनुष्य के महत्त्व की मर्यादा का बोधक है जबकि मध्ययुग में स्वीकार किया गया था कि मनुष्य जीवन दुर्लभ है और भगवान अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नर–रूप धारण करके ही करते हैं। इसलिए युगीन आधार पर दोनों के मानवतावाद को भुला नहीं देना चाहिए।

द्विवेदी जी साहित्य के प्रयोजन और हेतु पर विचार करते हुए लगभग अपनी सभी आलोचनात्मक कृतियों में बल देते हैं कि मनुष्य की दुनिया प्रयोजनों की दुनिया है। जिसे प्राप्त करने के वह नानाविध प्रयत्न करता है। प्रेम, भक्ति, सौन्दर्य से रहित, मनुष्य का जीवन पशु जीवन है। मनुष्य को उसकी समस्याओं से निकालने के लिए कवि को इन प्रयाजनों की दुनिया से ऊपर उठना है। और मनुष्यता को भी इन प्रयोजनों से ऊपर उठाकर उसके जीवन में रस, सौन्दर्य, भक्ति, प्रकाश का संचार करना है। इसलिए कवि के पास प्रयोजनातीत आनंद के रूप में काव्य है, साहित्य है। वर्तमान समय में साहित्य का प्रयोजन केवल भावोद्रेक या भावाभिव्यक्ति मात्र नहीं है बल्कि उसका प्रयोजन जीवन की व्याख्या है, जीवन का सांगोपांग चित्रण है और द्विवेदी जी के शब्दों में शायद आज का मनुष्य साहित्य में 'स्पांटेनियस आउटवर्स्ट आफ पर्सनल फीलिंग्स' चाहता है। द्विवेदी जी ने साहित्य के प्रभाव की चर्चा को बहुत ही स्पष्ट ढंग से चित्रित किया है कि केवल शब्द और अर्थ की एक–दूसरे से होड़ मचाने वाली सुंदरता को ही साहित्य नहीं कहते बल्कि उस सुन्दरता से उत्पन्न होने वाले प्रभावों की भी बात सोचते हैं। क्योंकि साहित्य अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के प्रभाव डालता है। संसार में बहुत सा साहित्य ऐसा भी लिखा गया जो अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देष्य से लिया गया और जिसने कोमल बुद्धि वाले युवकों की बुद्धि को विषाक्त बना दिया। द्विवेदी जी का मानना है कि लेखक का समाज के प्रति उत्तरदायित्व है कि वह मनुष्यत्व की सहायक शक्तियों को पहचानने में सहायक बनें। अपनी मनुष्यत्व की धारणा को और सुदृढ़ बनाते हुए द्विवेदी जी शोषित–पीड़ित जन के उद्धार को साहित्य का सबसे बड़ा लक्ष्य स्वीकार करते हुए कहते हैं : ''आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हीं की ओर देखकर कीजिए।''

द्विवेदी जी का मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है। लेकिन यर्थाथ से अभिप्राय वे केवल सतही और असीमित अथवा प्रकृतवादी यथार्थ ही नहीं मानते बल्कि वे स्पष्ट करते हैं कि जीवन या यथातथ्य चित्रण ही साहित्य नहीं होता बल्कि जीवन के सैंकड़ों व्यापारों से लेखक चुनाव करता है और निश्चित उद्देष्य से लिखता है। द्विवेदी जी मानते हैं कि साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। उनका मानवतावाद इतिहास और विज्ञान में मुंह फेरने वाला नहीं है और न ही राजनीति और अर्थनीति की उपेक्षा करने वाला बल्कि वह तो विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त कर जीवन की वास्तविकता की व्याख्या करता है। अपने इस विशेष यथार्थोन्मुख मानवतावादी विचारों को द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर' और 'साहित्य का मर्म' ग्रंथों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि, ''काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना थे दो किनारों की उपज है वे परस्पर विच्छिन्न नहीं है परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही हैं।''

द्विवेदी जी ने परम्परा और परिवेष के मणिकांचन योग से साहित्य सर्जन स्वीकार किया है। उन्होंने अपनी अनुसंधानात्मक दृष्टि से ही सूर साहित्य में राधा– कृष्ण का विकास नामक अध्याय में आई भ्रांतियों को निरस्त किया और हिन्दी में भक्ति काव्यधारा के आरंभ को लेकर भी नवीन उद्भावनाओं का परिचय दिया और स्थापित किया कि दक्षिण से जो भक्ति की धारा उत्तर भारत में आई वह सर्वत्र एक समान नहीं बनी रही। इसलिए जो लोग दक्षिण के आचार्यों के दार्शनिक और धार्मिक मतों के केन्द्र में रखकर तुलसी और सूर के रहस्यों को उद्घाटित करते हैं वह लोकमत के साथ न्याय नहीं करते हैं। इसलिए सूर में यह धारा (भक्ति की) एक रूप में दिखाई देती है तो तुकाराम में किसी दूसरे रूप में तथा पश्चिम के सूफ़ी मत की साधना पद्धति कबीर में किसी अन्य रूप में प्रस्फुटित दिखाई देती है। मध्यकालीन बोध की अवधारणा को उन्होंने 'ज़ब्दी मनोवृत्ति' के रूप में सोदाहरण स्पष्ट किया तो भक्ति की सुदृढ़ भित्ति के दर्शन भारतीय समाज–संस्कृति में ही परिलक्षित किए। उन्होंने रीतिकाल को सोन्मुख सामंती व्यवस्था की देन सिद्ध किया। द्विवेदी जी के उपर्युक्त विचार परम्परा और परिवेश के सुंदर सुमेल के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

विभिन्न वादों पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने अपने मानवतावादी आधार को ही स्थापित किया है। आदर्शवाद उनकी नज़र में, ''जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुश्य पूर्व जीवों का लक्षण था पर जो जैसा है वैसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुश्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है।'' मनुष्य ने अपने इसी प्रयत्न और तपस्या से आहिम मनोवृत्तियों पर विजय प्राप्त की है। द्विवेदी जी मानते हैं कि चरित्रगत दृढ़ता और आचरण शुद्धि इसी दिशा में किए गए सार्थक प्रयास हैं और अन्ततः जिस बात के कहने से मनुष्य पशु सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता वह त्याज्य है, निष्प्रयोजन है। छायावाद को द्विवेदी जी ने बंधन मुक्त काव्य माना और इसे भारतीय स्वाधीनता

आन्दोलन की अभिव्यक्ति बताया। ''यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं परन्तु कभी–कभी यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है'' – यह विचार द्विवेदी जी ने बहुत गहन विश्लेषणोपरांत यथार्थवाद पर प्रकट किए। द्विवेदी जी ने प्रगतिवादी साहित्य को मार्क्स के तत्वदर्शन पर आधारित बताया है। यह साहित्य समाज को बदल देने में विष्वास रखता है और प्रगतिशील वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाववादी दृष्टि ने आलोचना को विलक्षणता प्रदान की है। वह कवि के भावों को समझने पर अधिक बल देते हैं। वह साहित्य में सामाजिक संदर्भों को देखते हुए मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रधानता देते हैं। उन्होंने साहित्य को शास्त्रों की अपेक्षा लोक की अभिव्यक्ति माना। साहित्य उनके लिए बुद्धि विलास नहीं बल्कि जीवन से संस्पर्शित रसासिक्त अभिव्यक्ति है। कल्पना की उड़ान की अपेक्षा यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़े होकर समस्याओं से दो–चार होना ही साहित्यकार का दायित्व है। द्विवेदी जी लोक जीवन के कुशल चितेरे थे। लोक को वह जीवन की प्राणधारा मानते थे। इसीलिए उन्हें पंडिताई बोझ लगती है, इसीलिए वे पुस्तकीय ज्ञान से व्यवहारिक ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं। जीवंत लोकधारा पर द्विवेदी जी के विचार इस प्रकार हैं, ''एक–एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ–सौ मुग्धाएँ, खंडिताएं और धीराएं निछावर की जा सकती हैं। वे निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और हिन्दी रीतिकालीन साहित्य की नायिकाएं अलंकारों से लदे रहने पर भी निष्प्राण हैं क्योंकि ग्रामीण परिवेश की स्त्रियाँ किसी शास्त्र की मुखापेक्षी नहीं है। वे तो अपने आप में परिपूर्ण हैं।'' इसी प्रकार लोकभाषा को वास्तविक भाषा मानने वाले द्विवेदी जी सहज भाषा के पक्षपाती थे किन्तु उनकी दृष्टि में सहज भाषा वह भाषा है जो सहज ही मनुष्य को आहार, निद्रा, दुर्गति, दरिद्रता, अंधसंस्कार और परमुखापेक्षिता आदि से ऊपर उठा सके। द्विवेदी जी मानते थे कि जैसे सीधी रेखा खींचना टेढ़ा काम है। उसी प्रकार सहज भाषा पाना भी कठोर तप है।

आचार्य द्विवेदी ने आलोचना के नए आयामों को अपनी पुस्तक 'सूरदास' द्वारा उद्घाटित किया। द्विवेदी जी से पूर्व आलोचना दो स्तरों पर उपस्थित थी। एक शास्त्रीय आलोचना सिद्धांतों में इस प्रकार जकड़ी हुई थी कि वह दुरूह, बौद्धिक और अव्यावहारिक हो गई थी और दूसरी व्यक्तिवादी आलोचना अपनी आचार–विहीनता से महत्वहीन सिद्ध हो रही थी। द्विवेदी जी ने आलोचना के इस रूप को व्यवहारिकता की ओर मोड़ा और आलोचना में 'मानव बुद्धि' और 'संतुलित दृष्टि' को इस रूप में परिभाषित किया कि यह संतुलित दृष्टि अतिवादी धाराओं के प्रवाह में मुक्त सत्यान्वेषण करने वाली दृष्टि है। द्विवेदी जी ने कृति की साभिप्रायता को स्थापित सैद्धांतिक–प्रतिमानों के आधार पर नहीं बल्कि कृति के भीतर ही खोजने पर बल दिया।

द्विवेदी जी ने स्थापित किया कि आलोचना का काम रचना की व्याख्या मात्र नहीं है बल्कि उसका मूल्यांकन भी है। व्याख्यात्मक आलोचना के विषय में द्विवेदी जी कहते हैं कि समालोचना के बाद भी इस बात की ज़रूरत रह जाती है कि समालोचक नहीं तो कोई और ही बतावे कि किस कवि से समाज को क्या लाभहानि है। अर्थात् समाज के लिए कितना उत्कृष्ट है ? इसी आधार पर उन्होंने कहा कि रचना में मूल्यांकन के लिए अनेक नए प्रतिमानों की आवश्यकता है क्योंकि आज आलोचना की सारी मांगें केवल प्राचीन काव्यशास्त्र या आलोचनाशास्त्र पूरा नहीं कर सकता।

कविता क्या है ? इस पर विचार करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि 'काव्य केवल कौशल नहीं है। कवि है इस दुनिया का जीव और वह जिन वस्तुओं से अपना काव्य रचता है वह भी इस दुनिया की ही होती हैं।..... इसलिए काव्य का लक्ष्य इस संसार से परे नहीं होता। द्विवेदी जी अच्छा और उपयोगितावादी काव्य लिखने के लिए अन्य विधाओं एवं विषयों के ज्ञान को अनिवार्य मानते हैं। उनका मानना है कि विज्ञान, संस्कृति, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाज विज्ञान इत्यादि का ज्ञान कवि के दिमाग को उर्वर बनाता है। कविता द्विवेदी जी के अनुसार प्रयोजनातिरिक है। अर्थात् दुनियावी प्रयोजनों की सीमारेखा से कविता का क्षेत्र आरंभ होता है। रस ध्वनि कविता के प्राण हैं और छंद धड़कन। छंदों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं कि छंदोहीन भाषा में कल्पना और संमूर्तन तो हो सकते हैं परन्तु आवेग का कम्पन नहीं।

उनके अनुसार छंदरहित कविता वहां सफल हो सकती है जहां बिम्ब हो। कविता के लक्ष्य को जहाँ ऊपर द्विवेदी जी लौकिक मानते हैं वहीं कहीं–कहीं अलौकिक भी स्वीकार करते हैं जोकि उनकी समन्वयवादी दृष्टि का परिचायक है जैसे; काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में मनुष्य उस अपार भूमा का रस पाता है जो उसे प्रयोजनों की संकीर्ण दुनिया से उठाकर असीम में प्रतिष्ठित करता है।'' कविता की तरह ही कहानी के विषय में द्विवेदी जी का मत है कि महत्त्वपूर्ण कहानी केवल अवसर विनोद का ही साधन नहीं होती। नाटक पर अपने विचार रखते हुए द्विवेदी जी भारतीय नाटक के नैतिक आदर्शों के समर्थक हैं और उपन्यास को वह इस नए यंत्रयुग की देन मानते हैं। उपन्यास को उन्होंने विशुद्ध गद्य माना है।

द्विवेदी जी का आलोचना कर्म मानवतावाद पर आधारित है। उनकी आलोचना दृष्टि निरपेक्ष है। मध्यकाल को प्रिय विषय मानते हुए भी मध्यकालीन बोध के बारे में, उसकी जबदी मनोवृत्ति के बारे मे उन्होंने निष्पक्षता से लिखा। उन्होंने ग्रंथ या ग्रंथकार को महत्त्वपूर्ण न मानते हुए उस प्राणधारा को महत्त्व दिया जो मानवता को संचित करती है। उन्होंने साहित्य को विशाल सामाजिक संदर्भों में देखा और मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता प्रदान की। द्विवेदी जी ने अपनी ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, वैज्ञानिक

समीक्षा दृष्टि से चिंतन प्रधान व्याख्यात्मक आलोचना का भी समावेश किया है जिसमें भावात्मकता की प्रधानता है। द्विवेदी जी ने सौन्दर्य बोध को संस्कृति माना। जीवन को सुन्दर ढंग से जीने के लिए क्रियाशीलता एक रूप है। सौन्दर्य इसी क्रियाशीलता पर आधारित है। प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न उसके समानांतर चलने वाले मानव रचित सौन्दर्य को वे लालित्य कहते हैं। इसलिए व्यष्टि और समष्टि में व्याप्त सौन्दर्य मनुष्य आधारित है क्योंकि उसका रचयिता भी मनुष्य है और रचयिता होना ही मनुष्य का लक्षण है। द्विवेदी जी इसी सौन्दर्य में जीवन के समग्र विकास की झांकी देखते हैं और और इसी में समस्त सर्जनात्मक क्षमता। यह सौन्दर्य सामंजस्यता और सन्तुलन की सृष्टि करता है जो पाठकों को आकर्षित करता है। इसी सौन्दर्य के दर्शन वे रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं में करते हैं। द्विवेदी जी की आलोचना दृष्टि गहन, गंभीर और तलस्वर्शी है। प्रत्येक बिन्दु की गहनता में जांच पड़ताल के बाद ही वे अपना निर्णय देते हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनकी एक और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है उनकी सृजनात्मकता। उनकी समीक्षा सृजनात्मकता से परिपूर्ण है। बौद्धिकता और चिंतन पर आधारित होते हुए भी यह आलोचना रूक्ष नहीं है। सरस और भावात्मक है।

मूल्यांकनपरक दृष्टि के आग्रही द्विवेदी जी पहले स्थापित मान्यताओं की जांच पड़ताल करते हैं, तर्क करते हैं और अब अपना मत–स्थापन करते हैं। कबीर, सूरदास और हिन्दी साहित्य का इतिहास संबंधी आपकी दृष्टि मूल्यांकन परक ही है जो अनुसंधान पर टिकी हुई है। द्विवेदी जी ने आंधत सांस्कृतिक मूल्यों को अखण्डता से प्रतिपादित किया है। मानवतावाद की प्रतिष्ठा ही सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा हुई है। उन्होंने समाज कल्याण, भ्रातृभाव, परोपकार, व्यक्ति हित, समानता और मनुष्य के महत्त्व को ही स्थापित किया। कबीर के माध्याम से द्विवेदी जी ने जातिपाति ऊँच–नीच, अमीर–गरीब से परे धर्म निरपेक्ष समाज की प्रतिष्ठा की। रासो काव्य के साथ–साथ कवि विद्यापति के संबंध में शैव के या वैष्णव, श्रृंगारी के या भक्त इत्यादि प्रश्न उठाकर युगीन संस्कृति की भूमिका पर ही उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हिन्दी आलोचना में द्विवेदी जी विलक्षण एवं अप्रतिम है।

12.5 कठिन शब्द

1. उर्वर, 2. संकीर्ण, 3. व्यवहारिक, 4. मनोवृति, 5. अभिप्राय, 6. अवधारणा, 7. कीर्तिस्तम्भ, 8. नैतिकता, 9. संकलित, 10. उपकरण

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न–1 आचार्य द्विवेदी के आलोचना सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

'द्विवेदी की कबीर विषयक स्थापनाएं'

13.0 रूपरेखा

13.1 उद्देश्य

13.2 प्रस्तावना

13.3 द्विवेदी की कबीर विषयक स्थापनाएँ

13.4 निर्धारित निबन्धों पर समीक्षा : व्याक्त, विश्लेषण, उपसंहार

13.5 सारांश

13.6 कठिन शब्द

13.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.1 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप :

- हिन्दी आलोचना में व्यक्त कबीर की छवि का अध्ययन कर पाएँगे।
- हिन्दी आलोचना में व्यक्त कबीर की छवि के आधार पर उनके जीवन और कविता को समझ सकेंगे।

13.2 प्रस्तावना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी जगत की एक विलक्षण विभूति हैं। एक प्रकाण्ड पण्डित, बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार, उच्चकोटि के शिक्षक, कुशल संपादक, भारतीय मनीषा के प्रतीक द्विवेदी जी मनुष्य की दुर्दमनीय जिजीविषा के प्रखर वक्ता थे। उन्होंनें स्वर्णिम भारतीय अतीत के आलोक में वर्तमान की राहों को

उज्ज्वल किया है। आपने भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, ज्योतिष और विभिन्न धर्मों–मतों इत्यादि का बहुत गइराई से अध्ययन–मनन विश्लेषण किया है। भारतीयता के परम्परागत जीवन मूल्यों के वर्चस्व की स्थापना के साथ उनमें नूतनता का सामंजस्य कर द्विवेदी जी ने आधुनिक और नवीन सामाजिक समस्याओं को अत्यंत विद्वतापूर्वक अपने साहित्य विशेषकर निबंधों में प्रस्तुत किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने मौलिक चिंतन, अनुसंधानात्मक दृष्टिकोण और विलक्षण प्रतिभा से हिन्दी आलोचना को जो नए आयाम प्रदान किए हैं वे संभवतः उन्हें इस क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण आलोचक सिद्ध करने के लिए यथेष्ट हैं।

13.3 'द्विवेदी की कबीर विषयक स्थापनाएं'

आलोचना के क्षेत्र में अन्य अनेक स्थापनाओं की भाँति 'कबीर' संबंधी उनकी स्थापनाएँ असाधारण एवं अन्यतम हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के साथ कबीर का नाम उसी प्रकार जुड़ा है जैसे तुलसी के साथ आचार्य शुक्ल का। 'कबीर' नामक ग्रंथ का प्रकाशन 1942 में हुआ जिसमें द्विवेदी जी ने अपनी विद्वतापूर्ण स्थापनाओं से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक क्रांति पैदा कर दी। उनकी इन मान्यताओं को न केवल सहर्ष स्वीकार किया गया बल्कि इसने आलोचना के क्षेत्र में एक नए युग, एक नई सोच की नींव भी रख दी और द्विवेदी जी मूर्धन्य आलोचक के पद पर आसीन हो गए।

द्विवेदी जी ने 'कबीर' पर जो विलक्षण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया उसका आधार उनकी 'कबीर' नामक ग्रंथ ही है। 370 पृष्ठों की इस पुस्तक में उपसंहार सहित सोलह अध्याय हैं तथा दो परिशिष्टों – (1) परवर्ती कबीरपंथी सिद्धांत (2) कबीर वाणी (256 पद) का समावेष उसे और अधिक मूल्यवान और उपयोगी बनाता है। इस पुस्तक में कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना की गई है। कबीर के उपेक्षित व्यक्तित्व को द्विवेदी जी ने सप्रमाण, सदृष्टांत इस प्रकार प्रकाशवान किया कि साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की संभावनाओं को जीवित कर दिया। उपेक्षित कबीर को उभारने वाली द्विवेदी जी की पंक्तियाँ, ''हिन्दी साहित्य के हज़ार वर्शों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ'' कबीर के महत्वांकन की तरफ एक सूत्रवाक्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास और हरिऔध के कबीर के प्रति उपेक्षित, उदासीन भाव के कारण भी द्विवेदी जी की नवीन चिंतन दृष्टि को भरपूर समर्थन मिला और द्विवेदी जी से पूर्व की गईं कबीर की आलोचनाओं को एकदम निस्सार सिद्ध कर दिया। द्विवेदी जी ने कबीर के व्यक्तित्व और साहित्य पर पड़ी उपेक्षा की धुंध को साफ करते हुए उनके फक्कड़ाना और क्रांतिकारी रूप को स्पष्ट किया। द्विवेदी जी ने कबीर के साथ–साथ मध्यकालीन धर्मसाधना को, सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य के असाधारण वैशिष्टय को रेखांकित किया।

'कबीर' पुस्तक के 'प्रस्तावना' अध्याय में कबीरदास के जाति संबंधी शोध और खोज तथा उनके द्वारा रचित ग्रंथों का उल्लेख विवेचन सहित दिया गया है। इसी अध्याय में डॉ० रामकुमार वर्मा,

ष्यामसुंदरदास और आचार्य क्षितिमोहन सेन के कबीर पद्य के संकलनों का भी संक्षिप्त वर्णनात्मक परिचय है। दूसरा अध्याय 'अवधूत कौन है ?' में कबीर पर योगमत के प्रभाव का चित्रण है ? साथ ही सिद्ध, तांत्रिक, अवधूत, गोरखपंथी अवधूत तथा उसका वेष, उसकी मुद्रा आदि विलयों की चर्चा है। योगी और अवधूत का अंतर बताते हुए कबीर पर नाथपंथी अवधूत मत के प्रभाव पर विचार करते हुए कबीर के अवधूत को नाथपंथी सिद्ध योगी बताया गया है। इसी प्रकार तीसरे अध्याय में 'नाथपंथियों के सिद्धांत और कबीर के मत पर प्रकाश डाला गया है। वेदांत मत से नाथपंथ का वैशिष्ट्य कापालिक और नाथमत की एकता तथा नाथमत की गुरु शिष्य परम्परा का वर्णन किया गया है। चौथा अध्याय 'हठयोग की साधना' है। इस पर विचार करते हुए नाथपंथ की साधना पद्धति को हठयोग कहा गया है। वास्तव में इस अध्याय को समझे बिना कबीर की साधना पद्धति को समझना कठिन है। इसमें कुण्डलिनी को एक शक्ति माना गया है जो संपूर्ण–सृष्टि में व्याप्त है। कुण्डलिनी को समझने के लिए ही शरीर रचना की कल्पना की गई है। पांचवां अध्याय 'निरंजन कौन है' ? इसमें निरंजन के साधारण और विशिष्ट अर्थ को स्पष्ट किया गया है। साधारण अर्थ में निरंजन शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है। छठे अध्याय में निरंजन शब्द के भाग्य विपर्यय के समान अनेक अन्य शब्दों का भी कैसा परिवर्तन हुआ है, पर विचार किया गया है जैसे शून्य, सहज, नाद, बिन्दु आदि। सातवां अध्याय 'योगपरक रूपक और उल्टबांसियाँ है। जिसमें योगियों और सहजयानियों की उलटबांसियों, संध्या भाषा तथा कबीर द्वारा मान्य सांकेतिक शब्दों का वर्णन है।'

'ब्रह्म और माया' नामक आठवें अध्याय में ब्रह्म, माया पर विचार किया गया है तथा रामानंदी मत में अद्वैतवाद की मान्यता और कबीर ने रामानंद से क्या पाया, वेदांत मत क्या है, निर्गुण–सगुण ब्रह्म, सांख्य व वेदांत मत तथा अविद्या का अवलोकन करते हुए माया को निरंजन की शक्ति बताया है। 'निर्गुण राम' नामक नौवें अध्याय में द्विवेदी जी ने निर्गुण ब्रह्म विषयक विस्तृत चर्चा का आधार ऐतिहासिक होते हुए भी उसमें दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठभूमि दी है। कबीर के 'राम' की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने बताया है कि कबीर के राम पुराणप्रतिपादित राम नहीं है। 'बाह्याचार' नामक दसवें अध्याय में उन के समकालीन साधकों की चर्चा करते हुए सर्वाधिक प्रभावशाली मत–हिन्दुमत या पौराणिक धर्म को माना है। इस अध्याय में कबीर के बाह्याचार मूलक धार्मिक कृत्यों के खण्डन की परम्परा योगियों, सहजयानी सिद्धों में दिखाई गई है। ग्यारहवाँ अध्याय 'संतों भक्ति संतों गुरु आनी' शीर्षक से है जिसमें भक्ति का अर्थ बताते हुए, कबीर की भक्ति को समझने की त्रुटियों के विषय में स्पष्ट किया गया है। कबीर के रामानंद से संबंध, हठयोग के प्रति विरक्ति, सहज समाधि, गुरु का प्रेम और भगवत् प्रेम की वर्षा आदि का वर्णन है। 'व्यक्तित्व विश्लेषण' बारहवाँ अध्याय है जिसमें भक्त और योगी की समाज पर पड़ने वाली प्रतिक्रिया को स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कबीर पर योगियों के प्रभाव को चित्रित किया है। कबीर के अक्खड़, फक्कड़ व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को बहुत गहराई से तार्किक ढंग से स्पष्ट किया गया है। तेरहवें अध्याय में 'भारतीय धर्म साधना

में कबीर का स्थान' पर चर्चा है जिसमें इस्लाम के भारतवर्ष में आगमन से लेकर उसमें कबीर के स्थान के प्रश्न को उठाते हुए अत्यंत सारगर्भित ढंग से हिन्दू धर्म और इस्लाम में अंतर स्पष्ट किया गया है। 'भगवत् प्रेम का आदर्श' नामक अगले अध्याय में कबीर और रवीन्द्रनाथ के लीला संबंधी विश्वासों में भेद एवं समानता को स्पष्ट किया गया है। 'रूप और अरूप सीमा और असीम' नामक पन्द्रहवें अध्याय में संसार की चंचलता, अस्थिरता, गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता की चर्चा है। 'उपसंहार' नामक अंतिम अध्याय में कबीर वाणी का विविध रूपों में उपयोग, कबीर भाषा के बादशाह के रूप में चित्रण है। इसमें कबीर को सामान्य जन का मार्गदर्शक एवं साथी बताया है।

कबीर के विषय में द्विवेदी जी की मूल स्थापना है कि कबीरदास मूलतः भक्त थे, योगी नहीं। उन्होंने कहा कि कबीरदास योगियों के द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं परन्तु वे स्वयं वही नहीं है जो योगी हैं। कबीर यौगिक क्रियाओं को भी बाह्य आचार ही मानते थे। इसलिए कबीर का केन्द्रीय विचार 'भक्ति' था। वे भक्ति को प्रधान मानते थे। उसके (भक्ति के) रहने पर बाह्याचार का होना न होना गौण है। यहां भक्ति कबीर को रामानंद से प्राप्त हुई थी। उन्होंने यहाँ तक कहा कि ''यह बात कुछ असम्भव नहीं कि रामानंद के प्रभाव में आने से पूर्व उन्होंने बहुत से ऐसे पद लिखें हों जिसमें योग संप्रदाय की परम्परा प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति रस का लेश भी न हो और ''जिस दिन से रामानंद ने कबीर को भक्ति रूपी रसायन दिया उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली, आँख मूंदने और कान रूंधने के टंटे को नमस्कार कर दिया, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम–काज ही सेवा हो गए, सेवा ही प्रमाण बन गया।''

द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि ने ही कबीर के प्रति उनके लगाव को जाग्रत किया था। कबीर के तिरस्कार के पीछे उनका निम्न जातीय होना, अनपढ़ होना द्विवेदी जी को बहुत अखरा। द्विवेदी जी ने कबीर में मनुष्य सत्य की घोषणा के क्रांतिकारी अभिप्राय देख लिए थे। निम्नजातीय होकर भी जिस निडरता से कबीर ने उच्च जाति को डाँटा फटकारा था उसी तेवर के कारण कबीर ने द्विवेदी जी को प्रभावित किया। द्विवदी जी को कबीर की फक्कड़ाना मस्ती ने भी भरपूर प्रभावित किया। द्विवेदी जी से पूर्व जहाँ कबीर को केवल रहस्यवाद या सधुक्कड़ी भाषा के केन्द्र में रखकर विचार किया जाता था वहीं द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व, जनोन्मुखी सामाजिक चेतना, मानवतावादी प्रेम भावना, प्रगतिशील विचारधारा, लोकधर्मी भक्ति–भावना, हृदयस्पर्शी कवित्व शक्ति तथा गहरी चुटीली व्यंग्योक्तियों पर विचार कर कबीर के नए अवतरण से हिन्दी जगत् को परिचित करवाया।

द्विवेदी जी की कबीर की भाषा संबंधी स्पष्ट मान्यता रही कि – 'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रस्तुत करना चाहा, उसे उसी

रूप में भाषा से कहलवा लिया है– बन गया तो सीधे–सीधे नहीं तो दरेरा देकर। मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नहीं कर सके।' द्विवेदी जी ने अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया कि कविता करना कबीर का लक्ष्य न होते हुए भी उनकी छन्द योजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार विधान पूर्ण रूप से स्वभाविक और अयत्नसाधित है। कबीर शास्त्रीय भाषा के पक्षपाती नहीं थे। द्विवदी जी स्वयं भी लोक के आग्रही रहे संभवतः कबीर ने उन्हें अपनी इसी सहजता और सरलता के कारण प्रभावित किया। द्विवेदी जी ने कबीर की व्यंग्योक्तियों में निहित शक्तियों का कारण ढूंढते हुए कहा कि कबीर की 'शेख़' और 'पंण्डितों' पर की गई उक्तियाँ इसलिए भी अधिक प्रखर बन पड़ी क्योंकि कबीर स्वयं उनको गहराई से देख सुन नहीं पाए थे इसलिए वे उनकी तरफ से लापरवाह थे और उन पर सीधी चोट करते थे। द्विवेदी जी के शब्दों में, ''इस लापरवाही के कारण ही इन आक्रमणों में एक सहज भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंग्यों की जान है। जबकि योगियों पर प्रहार करते हुए वे अधिक जागरूक हैं क्योंकि उनके जीवन और आचार को कबीर करीब से देख आए थे।

आचार्य द्विवेदी ने कबीर के विलक्षण व्यक्तित्व और कृतित्व पर नईं दृष्टि से विचार करते हुए विद्वानों का मार्ग प्रशस्त किया। यह नवीन दृष्टि न केवल कबीर का पुनर्मूल्यांकन करने वाली थी बल्कि समस्त संत काव्य के गहन अध्ययन–विश्लेषण की दिशा प्रशस्त करने वाली भी थी। कबीर दूसरे आलोचकों की दृष्टि में अनपढ़ थे परन्तु द्विवेदी जी के अनुसार कबीर ज्ञान के हाथी पर चढ़े थे पर, सहज का दुलीचा डाले बिना नहीं। जहाँ दूसरे आलोचक कबीर में चमत्कार देखते थे वहीं द्विवेदी जी ने उन्हें सिर से पैर तक मस्तमौला सिद्ध किया। मस्त जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखते, वर्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब कुछ झाड़–फटकार कर निकल जाता है। घर फूंक तमाशा देखने वाले कबीर ''सर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेशधारी के आगे प्रचण्ड, दिल से साफ, दिमाग़ से दुरूस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृष्य, कर्म से वंदनीय थे।'' कबीर की कथनी अनुभवाधारित थी और वह कागद लेखी के स्थान पर आँखिन देखी पर विश्वास करने वाले थे। उनकी वाणी में शताब्दियों से दलित और शोषित मानवता की पुकार मुखरित हुई है। वे मनुष्य मात्र की समानता के समर्थक और प्रवर्त्तक थे। राह से भटके हुए हिन्दुओं और मुसलमानों को आपने कस कर फटकारा, बेख़ौफ़ होकर पाखंडों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों की भर्त्सना की। कबीर का यही व्यक्तित्व लोक कल्याण की भावना से ओतप्रोत था जिसे द्विवेदी जी की पारखी दृष्टि ने रेखांकित किया। कबीर के इन्हीं विचारों से द्विवेदी जी ने उन्हें आधुनिक एवं प्रगतिशील कवि चिंतक सिद्ध किया। द्विवेदी जी लिखते हैं, ''सांप्रदायिक शास्त्र उक्तियों में उजड्डपन और ऊटपटांग बातों का आभास मिल जाना असंभव नहीं है, पर अगर वे धीर भाव से विचार करते तो उन्हें मालूम होता कि उस युग में अर्थहीन जाति–पाति के ढकोसलों पर कड़े से कड़ा आघात करना लोकपक्ष का अमंगल नहीं था। आज भी वह अर्थहीन जंजाल वर्तमान है और आज का महापुरुष भी – चाहे

वह कोई हो – इस पर आघात करने को बाध्य है। '' 'कबीर' पुस्तक के केन्द्रीय महत्त्व के अध्याय 'व्यक्तित्व विश्लेषण' में कबीर की भक्ति को जिस परिनिष्ठित समीक्षा भाषा में प्रस्तुत किया है वह दर्शनीय है – 'कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।' इसी अध्याय में कबीर के फक्कड़पन और अक्खड़पन को द्विवेदी जी ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।

आचार्य द्विवेदी जी ने कबीर की भक्ति की व्याख्या करते हुए उन्हें तात्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं ठहराया। उन्होंने स्पष्ट किया कि कबीर के राम और वेदान्तियों के 'निर्गुण ब्रह्म' में मौलिक भेद है। द्विवेदी जी कहते हैं कि, ''फिर भी इसमें तो कोई संदेह नहीं कि कबीर राम को रूपरेखा, आकार–प्रकार, द्वैत–अद्वैत, भाव–अभाव से परे समझते थे।'' वे कबीर की भक्ति को रूपातीत भगवान ही की भक्ति मानते हैं। किंतु द्विवेदी जी स्वयं प्रश्न उठाते हैं कि क्या रूपातीत भगवान भक्ति का विषय हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए द्विवेदी जी तर्क देते हैं– ''अद्वैत भावना भक्ति के मार्ग में बाधक नहीं है, इसके प्रभाव हैं – तुलसी, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और तांत्रिक साधक। इस भावना के अनुसार जीव वस्तुतः भगवान का ही रूप है जो भ्रमवश अपने को पृथक समझ रहा है। ''कबीर भक्त थे इसलिए संसार को 'माया' नहीं मानते। ईश्वर के प्रति शब्दातीत प्रेम को कबीर 'गूंगे के गुड़' वाली मूक व्यंजना से चित्रित करते हैं।

कबीर पर चिंतन–मनन करते हुए द्विवेदी जी ने लीक से हटकर यह भी स्थापित किया कि कबीर को समाज सुधारक समझना गलती है। यह सही है कि उनकी वाणी के प्रभाव से समाज–सुधार की भावना निहित हो सकती है। उनके मत में कबीर व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था।

आचार्य द्विवेदी ने कबीर को योगी जाति से संबंधित बताया है। उनके अनुसार मुसलमानों के अपने से पहले भारत में ऐसी श्रेणी उपस्थित थी जो ब्राह्मणों से असंतुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों को नहीं मानना चाहती थी। नाथपंथी योगी भी ऐसे ही थे। इस विषय में सन्देह नहीं कि उन दिनों नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगियों की एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिन्दू थी न मुसलमान थी। कबीर जिस जुलाहा जाति में पैदा हुए वे शिव उपासक थे और समाधि तथा शारीरिक साधनाओं से शिवत्व प्राप्ति पर बल देते थे। यद्यपि सिद्ध और अवधूत गृहस्थ नहीं थे परन्तु उनके बहुत से शिष्य आश्रमभ्रष्ट होकर गृहस्थ हो गए थे जिन्हें हिन्दु 'हेय दृष्टि' से देखते थे। यही आश्रम से निकले गृहस्थ हिन्दुओं के किसी मत से प्रभावित नहीं थे परन्तु इस्लाम भी स्वीकार नहीं किया था। इसलिए मुस्लिम भी नहीं थे। किंतु धीरे–धीरे इस्लाम के संपर्क में आने पर उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया। धर्मांतरण की इसी प्रक्रिया में कबीर का आविर्भाव होता है। द्विवेदी जी कबीर आदि संतों की वाणी की पूरी रूपरेखा भारतीय मानते हैं और बौद्ध धर्म के सिद्धों और नाथ योगियों से उनका सीधा संबंध सिद्ध करते हैं जबकि आचार्य शुक्ल नें कबीर आदि संतों की वाणी में वर्णित

'प्रेम की खुमारी' को सूफ़ी प्रभाव से अनुप्राणित माना। आचार्य द्विवेदी ने इसके स्त्रोत सिद्धों की सहज साधना में ही ढूंढ लिए।

'कबीर' के माध्यम से द्विवेदी जी ने सर्जनात्मक समीक्षा की चरमावस्था का दिग्दर्शन कराया है। कवि के सृजन क्षणों को पुनर्जीवित कर अपने व्यक्तित्व के मणिकांचन योग से आलोचक द्वारा की गई आलोचना सर्जनात्मक आलोचना कहलाती है। आलोचकों ने 'कबीर' कृति को सर्जनात्मक आलोचना की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा है। 'कबीर' में द्विवेदी जी का आलोचक रूप जिस भव्यता से प्रस्तुत हुआ वह हिन्दी आलोचना में अद्वितीय है। कबीर के व्यक्तित्व को निखारने, संवारने, सुलझाने के लिए द्विवेदी जी ने जिस निष्ठा, विश्वास और शक्ति का मणिकांचन योग किया है वह हिन्दी गद्य का गौरव कहा जा सकता है। आलोचना के क्षेत्र में कबीर के व्यक्तित्व को उभारने के लिए द्विवेदी जी ने जिस सच्चाई और गरिमा का माध्यम अपनाया वैसा संभवतः कोई उदाहरण नहीं मिलता। प्रो. नामवर सिंह ने बिल्कुल ठीक कहा है कि ''कबीर'' ग्रंथ का व्यक्तित्व विश्लेशण शीर्षक बारहवाँ अध्याय 'कबीर' का मेरूदण्ड है। प्रसंगवश मुझे यह भी कहने में संकोच नहीं कि 'कबीर का व्यक्तित्व विश्लेषण' हिन्दी गद्य का गौरव है।''

इस प्रकार समग्रतः कहा जा सकता है 'कबीर' जैसे उपेक्षित, तिरस्कृत किन्तु महत्त्वपूर्ण कवि को उनका अपेक्षित पद दिलवाने वाले द्विवेदी जी युग प्रवर्त्तक आलोचक हैं। द्विवेदी जी ने स्थापित किया कि कबीर जैसा विराट व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य के हज़ार वर्शों के इतिहास में अकेला ही है। महिमा की दृष्टि से वे तुलसी को प्रतिद्वन्दी के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु कबीर और तुलसी दोनों के व्यक्तित्वों में स्वाभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अंतर था। यद्यपि दोनों भक्त थे परन्तु दोनों भिन्न थे। मस्ती फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ झाड़–फटकार कर चल देने वाले तेज़ ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। द्विवेदी जी ने कबीर के जन्म संबंधी, निर्गुण धारा संबंधी विवेचनाओं को पुनः परिभाषित कर हिन्दी साहित्य के उपेक्षित कवि को सम्मानीय स्थान प्रदान करवाया। उनके कालजयी व्यक्तित्व को रेखांकित कर द्विवेदी जी ने अपनी पांडित्यपूर्ण सूझ का परिचय दिया। कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय पुरुष कहने वाले द्विवेदी जी ने उनकी सीधी, सपाट, खण्डन–मण्डन करने वाली भाषा में कटाक्ष, व्यंग्योक्तियों की सारगर्भिता को लक्षित कर उन्हें जनभाषा का प्रतिनिधि और वाणी का डिक्टेटर सिद्ध किया। अपने उग्र, विस्फोटक व्यक्तित्व से समझौता न करने वाली वृत्ति कबीर द्विवेदी जी के अनुसार,''बहुत कुछ को अस्वीकार करने वाला अपार साहस लेकर अवतीर्ण होने वाला कवि है।''

13.4 निर्धारित निबन्धों पर समीक्षा : 'व्यक्तित्व विश्लेषण', 'उपसंहार'

'व्यक्तित्व–विश्लेषण' निबंध में द्विवेदी जी ने संत शिरोमणि कबीर के व्यक्तित्व के विशलेषण के माध्यम से कबीर के लेखन और चितंन पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया है। कबीर ने परम्परा से क्या और कैसे

पाया और फिर उसे अपने जीवन में कैसे आत्मसात किया ? कबीर के चिंतन के विभिन्न पड़ाव उनके अपने व्यक्तिव के ही विभिन्न कोण हैं। कबीर की उक्तियाँ केवल निगूढ़ योग–रहस्य नहीं हैं और न ही केवल आँख मूँद कर की गई भक्ति की अभिव्यक्ति। कबीर ने भक्त और योगी के अन्तर्मन की गहरी पर्तों में से उन विरोधाभासों को सामने ला दिया है जो ऊपरी सतह पर अवलोकित नहीं होता। वास्तव में द्विवेदी जी ही अपने प्रज्ञा चक्षुओं से कबीर के व्यक्त्वि के उन कोनों को झांक आये है जो सामान्य जन की नज़र से परे हैं। द्विवेदी जी ने योगी और भक्त में मौलिक अंतर करते हुए बताया है कि योगी हठधर्मी था उसे टूटना तो स्वीकार्य था किन्तु झुकना कदापि नहीं। योगी समाज पर तीखे कटाक्ष करता था चाहे वे जाति पाति से संबंधित हों या ऊँच नीच से अथवा अमीरी गरीबी से। समाज की इन विषमताओं का विरोधी होकर भी योगी व्यक्ति को समाज में सबसे ऊपर रखता था। किंतु इन सामाजिक विषमताओं का विरोध करने वाला योगी स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरे प्राणियों को हेय समझता था। उसे स्वयं पर और अपने ज्ञान पर गर्व था। योगी पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड का समर्थक था। योगी प्रेम से परे ऐसा व्यक्ति था जिसे स्वयं पर भरोसा था। जबकि दूसरी तरफ भक्त इतना विनम्र था कि झुकना उसकी प्रवृत्ति थी परन्तु वह टूटता नहीं था। सामाजिक विषमताएँ भक्त के लिए सामाजिक मर्यादाएँ थी। भक्त अपनी विनम्रता और भगवद्भक्ति के कारण समाज में उच्च स्थान का अधिकारी हेाते हुए भी स्वयं को तिनके के भाँति तुच्छ मानता था। भगवान पर अपनी डोर छोड़कर भक्त भगवान के ही भरोसे रहता था कि वे ही उसे समस्त दुखों के हरने वाले हैं। स्वयं को तुच्छ, भटका हुआ समझने वाला भक्त आँख मूँद कर केवल भगवान की ही अनुकम्पा का आग्रही था। भक्त स्वयं को अज्ञानी समझता था, प्रेम ही उसका संबल था, उसे विश्वास था कि राम उसका उद्धार करेंगे, उसका बेड़ा पार लगायेंगे। ज्ञान का कठोर मार्ग भक्त का मार्ग नहीं था और वह ब्रह्माण्ड को पिण्ड मानता था।

योगी ने कठिन साधना से आम जन को यह संदेश दिया कि चौरासी लाख योनियों में भटकता प्राणी विकट मायाजाल से कैसे छूटेगा यह मार्ग बहुत संकुल है इसलिए श्रद्धालु के रूप में आम जन बेबस हैं। दूसरी तरफ भक्त का मानना था कि जिह्वा से एक बार लिया गया राम नाम सीधा स्वर्ग की कुंजी है। राम का नाम राम से भी बड़ा है। योगी जहाँ गृहस्थ या आम जन को भययुक्त बनाते थे वहीं भक्त उसे पूर्णतया भययुक्त बना देता था। योगी संसार को मृग–मरीचिका मानते हुए निर्गुण ब्रह्म को अगम्य, अगोचर सिद्ध करता है। योगी तर्क करता है कि यदि ब्रह्म गुणहीन, आकारहीन है तो फिर उसकी पूजा कैसी ? योगी मानते हैं कि जो संसार से भटका हुआ जीव है वह दया और करुणा का अधिकारी नहीं है बल्कि फटकार का अधिकारी है। यही अक्खड़ता योगी को भक्त से अलग कर देती है'। द्विवेदी जी मानते हैं कि जहाँ तक कबीर की अक्खड़ता का प्रश्न है, कबीर अक्खड़ थे परन्तु वहाँ जहाँ वह योगी से संबोधित होते हैं। जहाँ वह योगी की अज्ञान केचुंल को उतार फेंकने की बात करते है। जहाँ वह योगी की योग क्रिया–प्रक्रिया के

रहस्य पर प्रश्न करते हैं और निर्ममता से गगन और पवन के बल पर लोगों को आतंकित करने वाले योगियों को पूछते हैं कि समाधि भंग हो जाने के पश्चात् उसी संसार में पुनः लौट आने वाले योगियों की गति क्या है। वास्तव में कबीर ने स्वयं सहस्राचक्र के माध्यम से पवन और गगन को साध लिया था। कबीर ने परमब्रह्म का साक्षात्कार स्वयं कर लिया था इसलिए वह योगी की पहुँच और आडम्बर दोनों से बखूबी परिचित थे। यह कबीर का एक पक्ष था, उनके व्यक्तित्व का एक पहलू। आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी नीर–क्षीर विवेकी दृष्टि से कबीर के व्यक्तित्व का जैसा विश्लेषण किया है वैसा संभवतः अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

कबीर के व्यक्तित्व की विराटता और गहनता का आगे विश्लेषण करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि कबीर स्वभावतः फक्कड़ थे, मस्तमौला थे, घर फूँक तमाशा देखने का माद्दा रखने वाले थे, जिज्ञासु थे किन्तु सत्य के। मोह माया से परे। उनके जीवन का सिद्धांत रहा कि अच्छे से तभी तक जुड़ो जब तक वह अच्छा लगता है। और बुरे से तब तक दूर रहो जब तक वह बुरा है। इसीलिए वे स्वभावतः निर्मोही हो सकते थे क्योंकि उनका जीवन सिद्धांत ही अलग था। दिल रमा तो सब कुछ न्यौछावर नहीं तो राम–राम। तीन–तेरह के हिसाब से परे। कबीर ऐसे मस्त राम थे जिन्होंने कभी दुनियावी वस्तुओं को महत्त्व नहीं दिया। अपनी धुन के पक्के कबीर प्रेम के ऐसे दीवानें थे जो स्वयं को सदैव प्रिय की शरण में समझते थे इसलिए उनकी वाणी में मिलन–बिछुड़न का प्रलाप नहीं है। कबीर ऐसे पारदर्शी थे कि योगी बनकर भी, योगियों से प्रेरणा लेकर भी उन्होंने जब इस मार्ग में निस्सारता देखी तो बेपरवाही से तुरन्त घोषणा की कि केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक शम–दम से साध्य वस्तु चरम सत्य नहीं है। कबीर ने स्पष्ट कहा कि प्राप्ति परम पुरुश की करनी है जो आत्मा द्वारा प्राप्य है। उसके लिये बाह्य सिद्धियाँ और उनकी साधना एकदम निस्सार है। कबीर ने स्थापित किया कि बिना ज्ञान के योग व्यर्थ है। कबीर के अनुसार जब साधक कहता है कि परमब्रह्म केवल भीतर है और जगत–मिथ्या तो वह जगत को लज्जित करता है क्योंकि परमब्रह्म तो घर–घर निवास करता है और अगर साधक ये मान लेता है कि परमब्रह्म केवल बाहर है, भीतर से उसका कोई संबंध नहीं तो वह एक नम्बर का झूठा है। द्विवेदी जी कबीर के व्यक्तित्व में मस्तमौला, लापरवाह और निर्मम अक्खड़ता के दर्शन कबीर के जीवन के प्रति दृष्टिकोण से सामने लाते हैं।

कबीर ने ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु की अनुकम्पा और उसके महत्त्व को ज़ोरदार ढंग से स्थापित किया। कबीर के व्यक्तिव की अक्खड़ता और फक्कड़ता दोनों ही उनके आत्मविश्वास के कारण थी। उन्हें स्वयं पर इतना विश्वास था कि गलती अथवा सन्देह की स्थिति में वह स्पष्ट होते थे कि यह गलती अथवा सन्देह प्रक्रिया में है, साधन में है। साधना के कठिन मार्ग के कबीर ऐसे योद्धा थे जो आत्मविश्वास से लबालब थे। ऐसे कठिन और विकट मार्ग में कबीर का हमराही वही बन सकता था जो अपना 'घर फूँकने' का साहस रखने वाला हो क्योंकि कबीर के अनुसार परमब्रह्म की प्राप्ति सिर का सौदा करके ही प्राप्त की जा सकती है। कबीर के प्रेम का घर कोई खाला का घर नहीं है बल्कि उसे प्राप्त करने के लिए सीस उतार

हाथ पर पहले रखना पड़ता है और इतना साहस वही व्यक्ति कर सकता है जिसे अपने प्राप्य पर अखंड विश्वास है। इसलिए कबीर के प्रेम का आधार दुविधारहित अखंड विश्वास है।

कबीर की दृष्टि में एक भक्त पवित्रता का पर्याय है। दोनों का अनुपालन कठोरता से होता है। किन्तु दोनों की वृत्ति अत्यंत कोमल है। भक्त और पवित्रता दोनों के सामने लालच मुँह बाये खड़ा रहता है। दोनों की स्थिति कांच की तरह है। देखने में कोमल किन्तु प्रकृति से कठोर। भक्त एक सती की तरह पवित्रता की दृष्टि से एक को ही समर्पित रहता है। अतः कबीर काव्य में द्विवेदी जी के अनुसार जो ओज है, शक्ति है वह उनके अपने और अपने आराध्य के प्रति असाधारण विश्वास से संचित हैं। कबीर के हृदय से निकले हुए सच्चे भाव पाठक को सीधे हृदय तक छूने में समर्थ होते हैं। क्योंकि कबीर का काव्य रूपी पौधा हृदय से निकलता है इसलिए वे ना तो भावुकता की हल्की स्पर्श से झुलसता है और न ही तर्कशीलता से मुरझाता है। दूसरे शब्दों में कबीर का प्रेम हृदय से रस संचय करता हैं उस पर बाह्य आंधियों और तूफानों का कोई प्रभाव नहीं होता। कबीर के प्रेम में मस्ती है किन्तु मदमस्ती नहीं है। यह वाणी हृदय से निकली है परन्तु सच्ची होने के कारण कठोर है। कबीर के प्रेम में स्वतन्त्रता है, संयम है, फूहड़ता नहीं हैं परन्तु ठेठ अक्खड़ता है, कबीर वाणी में प्रेम का यह स्वरूप कबीर की सरल प्रवृत्ति से आया है जो उसे प्रचण्डता प्रदान करता है कबीर का आत्मविश्वास सही और गलत में भेद करने की क्षमता के कारण वाणी को उग्र रूप प्रदान करता है और क्योंकि कबीर ने 'आंखिन देखी' पर ही विश्वास किया है इसलिए पैनापन इस वाणी की 'अन्यतम' पहचान है। कबीर की इसी वाणी में व्यक्त प्रेम का स्वरूप एक तरफ कठोर है तो दूसरी तरफ कोमल क्योंकि यह वाणी हृदय की अतल गहराइयों से कोमलता और सत्य की अभिव्यक्ति कठोरता का मणिकांचन योग किए हुए है।

कबीर के व्यक्तित्व की सरलता और आत्मविश्वास ने ही उनकी वाणी में विनम्रता और फटकार का योग किया है। विनम्रता इतनी कि भक्ति में कबीर राम का कुत्ता है और राम उन्हें जैसे रखेंगे वे उसी में प्रसन्न हैं, प्रेम में आत्मसमर्पण की संभवतः यह पराकाष्ठा है। इस आत्मसमर्पण के पीछे भक्त का विश्वास ही क्रियाशील है। दूसरी तरफ आश्चर्य होता है जब ज्ञान का आधार लेकर कबीर निर्ममता से समाज की शल्यचिकित्सा करते हैं, बड़े से बड़े योगी को भी वे ललकारने की शक्ति रखते हैं। द्विवेदी जी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि ''सरल व्यक्ति ही प्रचण्ड होता है विश्वास परायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान ही विनीत होता है।''

कबीर ने क्योंकि योगियों और अवधूतों की साधना क्रिया को बहुत सूक्ष्मता और गहराई से देखा था इसलिए इन पर कटाक्ष करते हुए वे 'पण्डितों' और 'मुल्लाओं' पर कटाक्ष से कहीं अधिक आक्रामक हो जाते थे। हिन्दुओं और मुसलमानों पर उनकी व्यंग्योक्तियाँ सहज, सरल और लापरवाही की हैं इसलिए उनमें अधिक जीवन्तता, प्राणवत्ता, पैनापन, नुकीलापन मौजूद है। बड़ी सफाई से कबीर ऐसी तिलमिला देने वाली वाणी के माध्यम से इन्हें फटकार लगाते हैं कि सामने वाले के पास इसका कोई जवाब नहीं होता। द्विवेदी

जी के अनुसार हिन्दी जगत् में आज तक कबीर जैसा व्यंग्यकार पैदा नहीं हुआ। कबीर ने शब्दों के रूप में मानों वाणों को ही खींच खींचकर मारा है। कबीर का मस्तमौलापन और फकीराना स्वभाव ही इस निष्चिन्तता और बेखौफ होने का कारण है।

ऐसा नहीं है कि कबीर से पहले इस प्रकार की आक्रामक भाषा का प्रयोग किसी ने न किया हो। योगियों और नाथ पंथियों ने किया है। किन्तु द्विवेदी जी के अनुसार इनमें कबीर जैसी मस्ती, मृदुता और लापरवाही नहीं है। कबीर की लापरवाही और उनका आत्मविश्वास ही कबीर काव्य की संजीवनी है। कबीर जिस सामाजिक वातावरण में जन्मे पले–बड़े हुए वह हिन्दुओं द्वारा तिरस्कृत और मुस्लमानों द्वारा अस्वीकृत था। किसी प्रकार से धर्मान्तरण कर मुस्लिम बने कबीर की जाति में राजसी गरिमा तो कहाँ प्राप्त कर सकती थी बल्कि अपनी प्राचीन हीनता से ही अधिक ग्रस्त थी। शास्त्र ज्ञान से वंचित जुलाहा जाति में भूख, गरीबी, ऊँच–नीच से जूझते कबीर को आक्रामक बना दिया था और उनके आत्मविश्वास ने उन्हें विद्रोही। किन्तु धन्य है कबीर के आत्मविश्वास की अडिगता। उन्होंने पंचतत्व और तीन गुणों की शरीर रूपी चादर को मैली नहीं होने दिया।

कबीर की अनुभवजन्य वाणी उनके व्यक्तित्व के फक्कड़पन, मस्तमौला, अक्खड़ और सत्य की ही प्रतिध्वनि है। द्विवेदी जी ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि कबीर भक्त के सामने निरीह, वेशधारी के आगे प्रचण्ड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल; बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, धर्म से वन्दनीय।

कबीर द्वारा सहज बात को सहज ढंग से कर देने के कायल रवीन्द्रनाथ टैगोर भी थे। ज्ञान को आवश्यक मानने वाले कबीर सहजता के समर्थक थे। भक्ति को वे कोई आम वस्तु नहीं मानते थे। उन्होंने समाज में जहाँ भी बाह्याचार, पाखण्ड देखा उस पर कस कर आक्रमण किया। कबीर वास्तव में युगप्रवर्त्तक थे।

'भारतीय धर्म–साधना में कबीर का स्थान' निबंध में द्विवेदी जी ने भारतीय धर्म साधना का विहंगावलोकन करते हुए कबीर की विलक्षणता को रेखांकित किया गया है। कबीर के आविर्भाव से ठीक पहले इस्लाम के आगमन ने भारतीय धर्ममत और सामाजिक व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित कर दिया था। जाति पाति के कठोर बंधनों में दरारें पड़ने लगी थीं। किंतु द्विवेदी जी विश्लेषण करते हुए समझाते हैं कि इस्लाम ही के आ जाने से अभूतपूर्व घटना कैसे घटी क्योंकि भारतवर्ष में इस्लाम से पहले न जाने कितने धर्म, सभ्यताएँ आई और भारतीय संस्कृति ने उनको उसी रूप में स्वीकार भी करके उसे अपना एक अंग मान लिया है। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि भारत की धर्म साधना आरंभ से ही वैयक्तिव रही। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र अधिकार रहा है कि वह अपने ढंग से अपने धर्म का पालन करे क्योंकि आचरण शुद्धि और चारित्र्य श्रेष्ठता की सबसे बड़ी पहचान रहीं। इसलिए भारतीय संस्कृति ने समस्त जातियों, संस्कृतियों को उनकी निंजी विशेषताओं के साथ स्वीकार किया।

किंतु इस्लाम एक ऐसा मजहब है जो भारतीय समाज एवं संस्कृति में किसी भी तरह सम्मिलित नहीं हो पा रहा था। भारतीय समाज में जाति की प्रधानता थी परन्तु व्यक्तिगत धर्म साधना का स्वातन्त्र्य था जबकि इस्लाम में जाति गत प्रधानता न होकर समूह गत धर्म साधना का प्राधान्य था। भारतीय धर्म साधना का केन्द्रबिन्दु चारित्र्य था और इस्लाम का धर्म। इस्लाम ने अपने आचार और मत को न मानने वालों का कुचक्र तोड़ना अपना परम लक्ष्य मान लिया था। किन्तु भारतीय धर्म–साधना में ऐसी प्रवृत्ति न होने से एक अज़ीब स्थिति बन गई थी।

द्विवेदी जी ने अपने निबंध में स्पष्ट किया है कि इस्लाम के आगमन से पहले 'यहाँ के विशाल जन–समूह' का कोई नाम नहीं था। संघटित होकर पहली बार इन्हें हिन्दु अर्थात् गैर इस्लामी मत नाम मिला। किन्तु जैसे स्पष्ट है इस गैर इस्लामी मत में भी कुछ शैव थे, कुछ शाक्त, कुछ वैष्णव, कुछ कर्मकाण्डी, अतः भारतीय धर्म साधना अपने एकत्व की पहचान के लिए एक रूप, एकजुट, एक विधान के लिए तत्पर हुई जो कि .....अनेकता में संभव नहीं था। हिन्दू समाज धार्मिक रूप में ग्रहणशील था परन्तु सामाजिक वर्जनाओं से युक्त था जबकि मुस्लिम समाज धार्मिक रूप में वर्जनाओं से युक्त था और सामाजिक धरातल पर ग्रहणशील। हिन्दू यद्यपि मुसलमानों के साथ जुड़ाव का कोई रास्ता नहीं ढूँढ पांये किन्तु वे अपने आप में अधिक हिन्दू अवष्य ले गए। उन्होनें अपने व्रत, तीर्थों, उपवासों पर ध्यान केन्द्रित कर लिया। यही समय था जब नाथपन्थियों एंव योगियों का बोलबाला था। यद्यपि इन योगियों को उपनिषद, गीता, शास्त्रीय सम्मत–मत में कोई रूचि और विश्वास नहीं था परन्तु अपनी सिद्धियों से लोगों में इनका स्थान था। शिव उपासक ये नाथ योगी जो समााधि और शारीरिक साधनाओं से शिवत्व प्राप्ति पर बल देते थे। यद्यपि सिद्ध और अवधूत गृहस्थ नहीं थे परन्तु उनके बहुत से शिष्य आश्रम भ्रष्ट होकर ग्रहस्थ हो गए थे जिन्हें हिन्दु तिरस्कार और हेय दृष्टि से देखते थे। यही आश्रम से निकले हुए गृहस्थ हिन्दुओं के किसी मत से प्रभावित नहीं थे इसलिए हिन्दू नहीं थे परन्तु इस्लाम स्वीकार नहीं किया था। इसलिए मुस्लिम भी नहीं थे। किन्तु धीरे–धीरे इस्लाम के संपर्क में आने पर इन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया। धर्मांतरण की इसी प्रक्रिया में कबीर का अविर्भाव होता है।

द्विवेदी जी भारतीय धर्म साधना की अगली कड़ी के रूप में सूफी साधना की बात करते हैं जिससे किसी सीमा तक भारतीय समाज के साथ वैसा नहीं हो सका जैसा बौद्ध संघ के साथ था। किन्तु इस्लाम ने भारतीय जाति व्यवस्था की जड़ों को हिला कर रख दिया। जाति से अलग हुए लोगों की सैकड़ों जातियाँ, उपजातियाँ बन गई थीं। अब उन्हें अपनाने वाले विकल्प के रूप में इस्लामी समाज था। तभी दक्षिण से वेदांत भक्ति की अजस्र धारा बही जिसने समूचे भारत को अपने आगोश में ले लिया। यही भारतीय वाङ्मय

में भक्ति आंदोलन के रूप में प्रस्फुटित हुई और दूसरी तरफ नाथ योगियों के निर्गुण अगोचर ब्रह्म की उपासना के रूप में इस प्रकार भक्ति के दो रूप सामने आए। सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति। सगुण भक्ति ने हिन्दू जाति के बाह्याडम्बरों को प्रेम धारा द्वारा समाप्त किया और विधेयात्मक दृष्टि का प्रतिपादन किया, शास्त्र का आश्रय लिया, श्रद्धा ही उनका आधार था जबकि निर्गुण भक्ति साधना ने समाज में व्याप्त ब्राह्याचारों को दूर करने का प्रयास किया। उनके तेवर विद्रोही और विरोधी थे और उन्होंने अनुभव का आश्रय लिया। ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी है। यह निर्गुण वादियों का मूलमंत्र था। किन्तु दोनों ही धारायें केवल कोरे की विरोधी थीं, प्रेम की समर्थक थीं, आत्मसमर्पण दोनों का धर्म था किन्तु इतनी समानता के बाद भी यद्यपि दोनों भगवान की लीला में विश्वास रखते थे किन्तु लीला संबंधी दोनो के विचारों में अंतर था। यह संसार भगवान की लीला हैं दोनों मत मानते हैं। किन्तु भक्त इसे प्रेम से गम्य मानता है जबकि योगी उसे ज्ञान द्वारा साध्य मानते हैं। भगवान की लीला में ही माया भी 'लीला' के समान ही अनिवर्चनीय एवं अगोचर तथा निरंजन है। किन्तु द्विवेदी जी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि माया वह है जो रहस्य है। जिसे हृदय और बुद्धि से प्राप्त नहीं किया जा सकता हैं परमात्मा ने इस लीला का प्रसार क्रीड़ा हेतु किया है और क्रीड़ा में भगवान आनन्दित हैं। इसलिए जो आस–पास सर्वत्र घटित हो रहा है वह आनंद स्वरूप ही है। प्रेम ही इसका आधार है, भक्त इसी प्रेम द्वारा प्रभु को पाने की इच्छा करते हैं। प्रेम पथ पर बढ़ता भक्त प्रभु की लीला के लिए उसी के रंग में रंग कर आकुल व्याकुल होता है। जबकि साधरण जन अपनी दुनियावी उलझनों में उसी रंग से बेअसर दिखाई देता है कबीर साक्षी हैं और बार–बार कहते हैं कि हरि रंग सबसे न्यारा है जिसके चढ़ जाने पर दूसरे किसी रंग का महत्त्व नहीं रहता।

भक्त स्पष्ट करते हैं कि इस लीला को अनुभव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। लीला स्वंय साध्य भी है और साधक भी। यह लीला ही लीला का मार्ग है। भगवान की अपने भक्तों और साधकों के साथ यही प्रेम लीला जिसमें कि भक्त आठों पहर मदमस्त रहता है। मध्यकालीन भक्तों की साधना की केन्द्रीय परिधि यही प्रेमलीला थी। यह प्रेम ही मध्यकालीन भक्तों का परम पुरुषार्थ था।

द्विवेदी जी स्थापित करते हैं धर्म साधना के ऐसे वातावरण में जबकि सगुण भक्त परम्परा के पोषक और उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए थे और उन्होंने समाज में अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा प्रेम को प्रतिष्ठित कर दिया था। परन्तु ऐसे समय में कबीर की साधना का केन्द्र भी प्रेम भक्ति था परन्तु उनका आविर्भाव ऐसे संधिस्थल पर हुआ जहाँ एक ओर हिन्दुत्व और दूसरी तरफ मुस्लमानत्व का बोलबाला था, एक तरफ ज्ञान था दूसरी तरफ अशिक्षा। एक तरफ योग का मार्ग था तो दूसरी तरफ भक्ति का। कबीर वास्तव में काल के चौराहे पर खड़े इन सभी धाराओं को बड़ी स्पष्टता से देख रहे थे

और इन्हें देखते हुए उन्होंने अपनी प्रेमामूलक भक्ति का आरम्भ परम्परा से निषेध द्वारा किया। धैर्यपूर्वक सब स्वीकार करने को उन्होंने अस्वीकार किया और विरोध करने का साहस दिखाया। ज्ञान के सभी लिखे हुए पोथों को वह भोज मानते थे। क्योंकि ज्ञान का यह बोझ व्यक्ति को जड़ बना देता है। कबीर की तो दृष्टि में ढाई अक्षर प्रेम के पढ़ने वाला ही महापण्डित है। उनके अनुसार वेद, किताबें, शास्त्र, व्रत, उपवास, मन्दिर, मस्जिद से भी ऊपर प्रेम है कबीर ने लोगों को अंधानुकरण करने से रोका और कहा भगवान केवल मन्दिर–मस्जिद में नहीं, किसी की बपौती नहीं है बल्कि स्वयं हमारे भीतर है। जहाँ कुसंस्कारों, रूढ़ियों, ब्राह्याचारों, व्रतों, उपवासों, तीर्थों, ब्राह्याडम्बरों की ही प्रधानता थी। कबीर ने केवल किसी के विरोध के लिए इन ब्राह्य साधनाओं को अस्वीकार नहीं किया था ज्ञान की शमशीर से उन्होंने अज्ञानता के कवच को भेदा।

कबीर समझौतावादी नहीं थे। उन्होंने विकट कलेजा रखते हुए समाज की विनाशक शक्तियों को पराजित करने का प्रण किया था। कबीर ने जिस जातिगत वैमनस्य को, रूढ़ियों को, भ्रांतियों को, विध्वंसकारी धर्माचारों को तोड़कर मानवता की शीर्षस्थता का विचार रखा था। आज उसी की अनिवार्यता कबीर की प्रासंगिकता सिद्ध करती है।

'उपसंहार' निबंध में द्विवेदी जी ने कबीर को धर्मगुरु स्वीकार करते हुए कहा कि कबीर को समाज सुधारक, समन्वयवादी, हिन्दू–मुस्लिम एकता के सूत्रधार, विशेष पंथ के उन्नायक और वेदांत व्याख्याकार के रूप में विद्वानों द्वारा चर्चा परिचर्चा का विषय बनाया गया। क्योंकि जिस प्रकार 'हरि अनंत हरिकथा अनंता' है। उसी प्रकार कबीर और कबीर वाणी अनंत अनेक दिशाओं में प्रतिनिधतत्व करती दिखाई देती है। द्विवेदी जी का कहना है कि उन्हें इनमें से किसी एक का ही प्रतिनिधि स्वीकार करना भयंकर है। 'उपसंहार' निबंध में द्विवेदी जी ने सिद्ध किया है कि हिन्दी साहित्य की एक हज़ार वर्षों की यात्रा में भी कबीर जैसे व्यक्तित्व वाला कोई दूसरा सामने नहीं आया है। हाँ, महिमा में तुलसी ही उनसे होड़ लेते प्रतीत होते हैं। परन्तु दोनों के व्यक्तित्व में अंतर को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि भक्त दोनों ही थे किन्तु दोनों के संस्कारों, स्वभाव और दृष्टिकोण में ज़मीन आसमान का अंतर था। कबीर के फक्कड़, अक्खड़ और मस्त स्वभाव ने उन्हें आत्मविश्वासी, विद्रोही, क्रांतिकारी और अद्वितीय बना दिया। उनके व्यक्तित्व की इन्हीं विशेषताओं के कारण उनकी वाणी में सहज आकर्षण है। किन्तु सत्य यह कि कविता लिखना कबीर का उद्देष्य नहीं था। न ही वह छंदों, अलंकारों और काव्य रूढ़ियों के जानकार थे। परन्तु साधारण जीवन की सत्य सटीक वाणियों ने उन्हे 'कवि' की संज्ञा से विभूषित कर दिया। कबीर

वाणी में साधारण जीवन ठाठे मारता है। आंनद की आत्मविस्मृतकारी स्थितियों में भी आम जीवन और साधारण मनुष्य को वे नहीं भूलते। कबीर इसलिए प्रेम और विश्वास के कवि बन जाते हैं क्योंकि वे सरलता के आग्रही हैं, बाह्य साधनाओं के निदंक हैं। उनके क्रांतिकारी रूप ने उनको त्रस्त और दुःखी जनता का साथी बना दिया।

द्विवेदी जी कबीर के समाज सुधारक रूप को स्पश्ट करते हुए कहते हैं कि कबीर की उक्तियों से समाज सुधार में सहायता मिल सकती है किन्तु वे समाज सुधारक नहीं थे क्योंकि वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। सर्व–धर्म–समन्वय की दृढ़ भक्ति कबीर वाणी में सर्वत्र उपलब्ध है। किन्तु आज सर्व धर्म समन्वय का जो अर्थ लिया जाता है कि सभी धर्मों में कुछ–कुछ अच्छा देखना और सब के लिए सम्मान की दृष्टि पैदा करना– कबीर वाणी इसकी कठोर, कड़ी विरोधी है। बड़े से बड़े पीर, पण्डित, धर्म या संप्रदाय को विचारहीनता के धरातल पर स्वीकार नहीं करते। वे बाह्याडम्बरों के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में जो मनुष्य इन सभी आडम्बरों, दिखावों से परे है वही प्रेमभक्ति का असली हकदार है। कबीर की दृष्टि में जाति, वंश, गोत्र, कुल और आचार इत्यादि की श्रेष्ठता महत्वहीन है। कबीर मत मतांतर और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के भी खिलाफ थे। कबीर हिन्दू और मुस्लिम एकता के प्रर्वत्तक थे,समर्थक थे निस्सन्देह। किन्तु प्रोपेगेटर नहीं थे। उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में दोनों धर्मों के उच्चतर आदर्शों को एक करने का कभी प्रयास नहीं किया बल्कि दोनों ही धर्मों की गली, सड़ी रूढ़ियों को समूल उखाड़ने की बात की और तथाकथित धर्म के ठेकेदारों की जमकर हंसी भी उड़ाई है। कबीर ने दोनों ही धर्मों में एक्य के प्रश्न पर भगवान के प्रति विश्वास को अमोघ अस्त्र माना है।

द्विवेदी जी ने इस निबंध में कबीर के भक्त रूप को कबीर का वास्तविक रूप माना है। कबीर ने भगवद् भक्ति की जो राह अपनाई वह जाति, धर्म, शास्त्र, कुल, गोत्र और सम्प्रदाय से बंधी नहीं थी बल्कि अनुभवजन्य थी। भक्ति कबीर के व्यक्तित्व का केन्द्रीय तत्त्व है। इसी भगवद्भक्ति को स्पष्ट करते हुए कबीर ने अन्य अनेक ऐसी बातें कही हैं जो भक्ति को समझने में सहायक हो सकती हैं किन्तु भक्ति नहीं हैं। कबीर ने अकथनीय को अवर्णनीय को, अगम के, अगोचर को शब्दों में बांधा है जो सबसे बड़ी काव्यशक्ति माना जाता हैं भक्त अनुभव द्वारा प्राप्त सत्य में ही विश्वास रखते हैं इसलिए कबीर जैसे भक्त उस भगवान को जानते हैं कर्णहीन होकर भी सुनते हैं। मूक होकर भी वक्ता होते हैं। संसार में क्षुद्र भी वही है और विराट भी, मालिक भी वही है, सेवक भी, वह गुणयुक्त भी है और गुणहीन भी। भगवद्भक्ति का यह विषय न इन्द्रियों द्वारा साध्य है और न ही मन, बुद्धि और हृदय द्वारा यह केवल अनुभव का ही विषय है।

कबीर क्रांतिकारी थे प्रेम भक्ति के उपासक थे, बिना भय और खौफ के गलत के विरूद्ध डटने वाले थे, आत्मविश्वासी थे, तर्क से ज्यादा अनुभव में विश्वास रखने वाले थे इसलिए उनकी वाणी की विभिन्न वर्ण–किरणों को बहुत गहरे उतरकर ही पकड़ा जा सकता है। कबीर की भक्ति को, ज्ञान को, अनुभव को, साधना को और समाधि को बहुत साधना से साधने की आवश्यकता है।

'मसि कागद छुओ नहीं, कलम गहयो नही हाथ, के विचारक कबीर न तो शास्त्रीय भाषा के ज्ञाता थे– और न ही छंद अंलकारों के जानकार। किन्तु उन्होंने अनिर्वचनीय, अगोचर, अचीन्हे को वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने का जो भागीरथ प्रयास किया था, वह वाणी कबीर का सबसे बड़ा हथियार थी। द्विवेदी जी स्थापित करते हैं कि वाणी के डिक्टेटर थे कबीर। भाषा पर उनका जबरदस्त अधिकार था। भाषा कबीर के समक्ष लाचार सी नज़र आती है। कबीर ने अपने भावों को जिस रूप में प्रकट करना चाहा, भाषा को उसी प्रकार परिवर्तित कर लिया।

उनके तीनों निबंध बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। द्विवेदी जी ने अत्यंत सूक्ष्म, गहन, नीर–क्षीर विवेकी दृष्टि से कबीर का सर्वांगीण विशद–विश्लेषण किया है जो वास्तव में अपूर्व है, अदभुत् है।

13.5 कठिन शब्द

1. सर्वागीण, 2. अनिर्वचनीय, 3. परिधि, 4. प्रस्फुटित, 5. विधेयात्मक, 6. प्रकृत्ति, 7. कुचक्र, 8. अनुभवजन्य, 9. प्रतिध्वनि, 10. आराध्य

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न–1 द्विवेदी जी की कबीर विषयक स्थापनायों पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

प्रश्न–2 'कबीरदास मूलतः भक्त थे, योगी नहीं' द्विवेदी जी कबीर के प्रति इस मूल स्थापना पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध

14.0 रूपरेखा

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 गजानन माधव मुक्तिबोध : जीवन एवं कृतित्व

14.4 मार्क्सवाद की बुनियादी मान्यताएँ

14.5 मार्क्सवाद और हिंदी साहित्य

14.6 हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षक

14.7 मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध

14.8 सारांश

14.9 कठिन शब्द

14.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

14.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरांत आप

- गजानन माधव मुक्तिबोध के साहित्यिक जीवन से परिचित हो सकेंगे
- मार्क्सवादी सिद्धान्त को समझ सकेंगे

- हिंदी साहित्य में मार्क्सवादी आलोचकों के विषय में अवगत हो सकेंगे
- मार्क्सवादी आलोचक के रूप में मुक्तिबोध को समझ सकेंगे

14.2 प्रस्तावना

गजानन माधव मुक्तिबोध का नाम हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचकों में प्रमुख रूप से लिया जाता है। मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि नए आयामों को छूती है। उनका चिंतन समीक्षा के नए आधार निर्मित करता है। उनकी रचनाओं में उनका आलोचक रूप स्पष्ट देखने को मिलता है। 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध', 'नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', 'कामायनी एक पुनर्विचार' में उनकी मार्क्सवादी आलोचना का स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। मार्क्सवादी विचारों को मुक्तिबोध अपने समय के अनुरूप ढालते नज़र आते हैं। अपने पूर्व और समकालीन मार्क्सवादी आलोचकों में उनका विशिष्ट स्थान है।

14.3 गजानन माधव मुक्तिबोध : जीवन एवं कृतित्व

विद्यार्थियो! आइए अब हम गजानन माधव मुक्तिबोध के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में जान लेते हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध : जीवन

जन्म :

गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर, सन 1917 में मुरैना जिला (मध्यप्रदेश) के श्यौपुर गाँव में हुआ। मुक्तिबोध के पिता श्री माधव मुक्तिबोध ग्वालियर राज्य के पुलिस विभाग में इन्स्पेक्टर पद पर कार्यरत थे।

आपकी माता पार्वतीबाई ईसागढ़ (बुंदेलखण्ड) के सम्पन्न किसान परिवार से थी। मुक्तिबोध के पिता माधवराव अत्यन्त निर्भीक, कर्मनिष्ठ, न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ थे।

बचपन :

मुक्तिबोध बचपन से ही बड़े ही लाड–प्यार में पले थे। पहली दो संतानों की मृत्यु हो जाने के कारण माता–पार्वतीबाई तथा पिता–माधवराव गजानन को आँखों से ओझल नहीं होने देते थे। माता–पिता के साथ ही दादा गोपालराव भी गजानन को बहुत प्यार करते थे। गजानन

का बचपन खुशी तथा लाड–प्यार में बीता। सभी ओर से होते लाड–प्यार ने उन्हें जिद्दी बना दिया था।

मुक्तिबोध की शिक्षा :

मुक्तिबोध की प्रारम्भिक शिक्षा उज्जैन में हुई। लेकिन पिता की पुलिस विभाग में नियुक्ति और उनके बार–बार स्थानान्तरण होने के कारण उनकी शिक्षा समुचित ढंग से न हो सकी। उनका शिक्षा क्रम बड़ा अस्त–व्यस्त रहा, इसी कारण मुक्तिबोध मिडिल परीक्षा में असफल रहे। सन् 1943 में प्रकाशित 'तार सप्तक' के अपने वक्तव्य में मुक्तिबोध ने अपनी इस असफलता को जीवन की सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण घटना स्वीकार किया।

मुक्तिबोध के पिता मुक्तिबोध को वकील चाहते थे ताकि धन के साथ प्रतिष्ठा और सम्मान भी मिले। मुक्तिबोध के मन में धन की लालसा नहीं थी। उनके हृदय में सर्वसामान्य जन के दु:ख दर्दों के प्रति गहरी संवेदना थी। समाज के प्रति एक नयी दृष्टि तथा नयी सोच थी, जो उन्हें अन्य साहित्यकारों के मुकाबले अलग रखती है।

मुक्तिबोध ग्वालियर स्टेट से मिडिल परीक्षा पास हुए। उन्होंने मैट्रिक और इन्टर की परीक्षा भी अच्छी तरह से पास की। मुक्तिबोध के घर के वह पहले पढ़े–लिखे आदमी थे। इसलिए उनकी सभी प्रशंसा करते थे। उनकी सभी जरूरतें पूरी की जाती।

मुक्तिबोध आगरा विश्वविद्यालय से स्नातक हुए। नागपुर आने के बाद दोस्तों के कहने पर नागपुर विश्वविद्यालय से सन् 1956 में एम.ए. उत्तीर्ण की। उन्होंने अंग्रेजी, फ्रेंच और रूसी साहित्य का गहरा अध्ययन किया था।

मुक्तिबोध का विवाह :

मुक्तिबोध मूडी तथा जिद्दी स्वभाव के व्यक्ति थे। वे अपने विचारों के विरोध में किसी समझौते के लिए तैयार नहीं थे। उनके इसी स्वभाव से उनका प्रेम विवाह जुड़ा हुआ है। जब मुक्तिबोध अपनी फूफा आत्ताबाई के यहाँ अपना विद्यार्थी जीवन बिता रहे थे तब आत्ताबाई इन्दौर के एम.टी. अस्पताल में हेड–नर्स थी। शांताबाई की माता जी आत्ताबाई के यहाँ काम करती थी। वहीं मुक्तिबोध की मुलाकात शांताबाई से हुई। आत्ताबाई के क्वार्टर से ही गजानन और शांताबाई का प्रेम बढ़ता गया। गजानन ने अपने परिवार वालों के विरोध के बावजूद शांताबाई से प्रेम विवाह किया। इस प्रेम विवाह के लिए सबसे अधिक विरोध आत्ताबाई का ही रहा।

मुक्तिबोध की जीवन साथी के रूप में शांताबाई आखिर तक रही। लेकिन जो आरंभ में प्यार का काल्पनिक वातावरण था वह विवाह के पश्चात् पूर्ण रूप से चल नहीं सका। जहाँ एक ओर मुक्तिबोध का आर्थिक कटघरा था, तो दूसरी ओर शांताबाई की भौतिक सुविधाओं के प्रति नारीसुलभ चाह थी। इसी तनाव के कारण मुक्तिबोध घर में भी अकेलापन महसूस करते थे।

पारिवारिक परिवेश :

मुक्तिबोध का पारिवारिक परिवेश पिता की नौकरी रहने तक आर्थिक दृष्टि से संपन्न रहा। घर का वातावरण पिता की अनुशासनप्रियता, न्यायप्रियता, कर्तव्यनिष्ठा एवं नैतिकता से चल रहा था। घर के इस वातावरण के प्रभाव में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व आकार लेता रहा। यही कारण है कि मुक्तिबोध अपनी बातें पूरी शक्ति से कहते थे और उनके समर्थन में सजीव तर्क प्रस्तुत किया करते थे।

पिता के रिटायर होने के बाद घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। घर के खर्चे का पूरा बोझ गजानन पर पड़ा। पिताजी के रिटायर होने पर सरकारी आवास को छोड़कर वे एक छोटे से मकान में आ गए। उस समय की स्थिति भाई शरदचन्द्र के शब्दों में इस प्रकार है–मुक्तिबोध पर परिवार की अनेक जिम्मेदारियाँ आ पड़ीं। इन समस्त जिम्मेदारियों को वे अनेक कठिनाईयों के बावजूद सफल रूप से निभाते गए।

मुक्तिबोध की साहित्यिक रूचि और लेखन

मुक्तिबोध के लेखन का क्रम सन् 1935 में माधव कालेज उज्जैन से प्रारम्भ हुआ और उनकी मृत्यु तक चलता रहा। साहित्यिक जीवन का आरंभ 'कर्मवीर' में प्रकाशित रचनाओं से हुआ। सन् 1938 से सन् 1942 तक मुक्तिबोध की बौद्धिक चेतना में सर्वांगीण विकास दृष्टिगत होता है।

सन् 1943 में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। 'तार–सप्तक' में अन्य कवियों के साथ मुक्तिबोध की सोलह कविताएँ एक साथ प्रकाशित हुईं।

सन् 1942 से सन् 1945 तक मुक्तिबोध उज्जैन में रहे। इसी समय सन् 1944 में 'मध्य भारत प्रगतिशील संघ' की स्थापना की। इस संघ के माध्यम से उदीयमान प्रतिभाओं का निरन्तर उत्साह बढ़ाते रहे और उन्हें प्रेरणा देते रहे।

सन् 1945 में मुक्तिबोध बनारस गये और वहाँ 'हंस' के सम्पादकीय विभाग में कार्य करते रहे। यहाँ पर आपने 60 रूपये प्रतिमाह वेतन पर कार्य किया किन्तु अधिक दिन तक बनारस आपको रास नहीं आया। यहाँ से वे जबलपुर आकर यहाँ हितकारिणी स्कूल में अध्यापक बन गये। यहाँ से वे नागपुर आ गये।

सन् 1954 में मित्रों की सलाह पर एम.ए. किया और राजनांदगांव के दिग्विजय महाविद्यालय में प्राध्यापक हो गये जहाँ वे मृत्युपर्यन्त कार्यरत रहे। यहाँ आने पर उन्हें थोड़ी शान्ति और स्थायित्व मिला जिसे 31 अगस्त 1958 में अपने मित्र वीरेन्द्र कुमार जैन को लिखे पत्र से स्पष्ट होता है– ''अब मेरा हाल सुन लो। जिंदगी में काफी ठुकाई पिटाई के बाद अब राजनांदगांव आ पहुँचा हूँ। यहाँ का कालेज नया–नया है। सभी लोग सहयोग की भावना से प्रेरित है। काफी आराम से हूँ। पिछली कश्मकश और मानसिक तनाव अब यहाँ नहीं है। इसलिए यहाँ का वातावरण सुखद है। सोचता हूँ। राजनांदगांव मुझे लाभप्रद होगा।''

राजनांदगांव का स्थायित्व और शान्ति के परिणामस्वरूप ही मुक्तिबोध ने यहाँ पर अपने उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया। यथा–'ब्रह्मराक्षस', 'ओरांग–ऊटांग', 'अंधरे में', 'विपात्र', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'काठ का सपना' आदि रचनाओं का सृजन यहीं हुआ।

अध्यापक और संपादक के रूप में

मुक्तिबोध ने बी.ए. पास होने पर मासिक तीस रूपये वेतन से यहाँ अध्यापन का कार्य शुरू किया। उन्होंने अपनी हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व के कारण विद्यार्थियों के मन पर अपनी धाक जमा ली। उनके घर पर विद्यार्थियों का अड्डा जमा रहता था। यहाँ उन्होंने अपने अध्यापन से सभी विद्यार्थियों पर अपनी सत्ता जमायी। किन्तु शान्ताबाई से प्रेम–विवाह होने पर नौकरी छोड़ उज्जैन चले गये। माधवराव की इच्छा थी बेटा कहीं पर सरकारी नौकरी करे लेकिन उन्हें सरकारी नौकरी रास नहीं आती। कुछ दिनों के बाद उन्होंने शुजालपुर छोड़ दिया और जबलपुर आ गये।

जबलपुर में जैन हाईस्कूल में टीचर की नौकरी की। इसी समय मुक्तिबोध ने यहाँ 'समता' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकाली थी। वे जबलपुर में मुक्तिबोध ने 'जयहिन्द' के सम्पादन में सहयोग दिया। इसके पश्चात् वे जबलपुर छोड़कर नागपुर आये और 'नया खून' साप्ताहिक पत्र में जान डाल दी। 'नया खून' साप्ताहिक पत्र को उन्होंने अपने सम्पादक काल में एक संस्था बना दिया। मुक्तिबोध के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने 'नया खून' का परिवेश बहुत व्यापक बना दिया।

मुक्तिबोध ने मध्यप्रदेश–शासन के सूचना विभाग में भी कुछ दिन काम किया। वे कुछ दिन आकाशवाणी, नागपुर की समाचार–शाखा से भी जुड़े रहे और अन्त में यहाँ से जाकर राजनांदगांव, दिग्विजय महाविद्यालय में अध्यापक की नौकरी की। मुक्तिबोध को राजनांदगांव में आकर कुछ स्थायित्व प्राप्त हुआ। यहाँ वह जीवन के अन्त तक अध्यापन का कार्य करते रहे। राजनांदगांव में 'संवेरा–संकेत' में भी वे सम्पादन का कार्य करते रहे। सारांश रूप में अध्यापन तथा सम्पादन में उनके अपना विशिष्ट स्थान मानना चाहिए।

स्वभाव तथा वृत्ति :

मुक्तिबोध अत्यन्त संवेदनशील थे। उनके मानवतावादी दृष्टिकोण ने उनको दीन–दलितों की ओर उन्मुख किया।

मुक्तिबोध को स्पष्टवादिता, कर्मशीलता, न्यायप्रियता, तार्किकता अपने पिता से विरासत में मिली थी। पर दूसरी ओर पिता जी की मूल–प्रवृत्ति–अनुशासनप्रियता एवं व्यवस्थित होकर जीने की कला को मुक्तिबोध अथक प्रयास के बाद भी न अपना सके। उनका जीवन बिखरा हुआ था, वे एक स्थान पर टिक न सके और न ही व्यवस्थित होकर मनोयोग पूर्वक जी सके। पिता के धर्म सम्बन्धी परम्परागत विचारों को वे अपने हृदय में नहीं उतार सके। सच्चे अर्थों में वे एक क्रान्तिकारी थे। शिक्षा, समकालीन वैज्ञानिक प्रगति, यूरोपियन साहित्य के अध्ययन एवं नवीन परिवर्तनों की ओर से आँख मूंदकर अंध–विश्वासों को पूजना उनके लिए सम्भव न था।

मुक्तिबोध अत्यन्त भावुक प्रवृत्ति के थे। अपने अभिन्न मित्रों को लिखे पत्रों में उनकी आत्मीयता और भावुकता के दर्शन होते हैं। वीरेन्द्र कुमार जैन को लिखा गया एक मार्मिक पत्र इस बात की पुष्टि करता है–

मुक्तिबोध जन के कवि थे। उनकी संवेदना निरन्तर ग्रामों तथा नगरों के उपेक्षित, सर्वहारा, दलितों की वेदना से जुड़ी रही। वे निरन्तर शोषितों के प्रति प्रतिबद्ध रहे।

मुक्तिबोध की मृत्यु :

सन् 1962 में मुक्तिबोध की कृति 'भारत : इतिहास और संस्कृति' मध्यप्रदेश सरकार ने प्रतिबन्धित कर दी। इस घटना से मुक्तिबोध को गहरा आघात पहुँचा–''लेखक की बात सुने बिना एक तरफा सरकारी कार्यवाही का धक्का मुक्तिबोध बर्दाश्त नहीं कर सके। शायद उसी मौके पर उन पर मेनिनजाइटिस की घातक बीमारी का प्रहार हुआ था।''

निरन्तर संघर्षों से तथा विपदाओं से जूझते रहे मुक्तिबोध को 7 फरवरी 1964 को पक्षाघात का शिकार होना पड़ा। साहित्यिक मित्रों के प्रयास से पहले मुख्यमंत्री, फिर प्रधानमंत्री द्वारा चिकित्सा सुविधा प्रदान की गई। सात महीनों तक मृत्यु से जूझते हुए असह्य कष्ट भोगते रहे। अन्त में 11 सितम्बर 1964 को मुक्तिबोध का देहांत हो गया।

गजानन माधव मुक्तिबोधः कृतित्व

मुक्तिबोध मूलतः कवि माने जाते हैं लेकिन उन्होंने गद्य साहित्य में भी अपनी लेखनी चलाई। मुक्तिबोध का लेखन सन् 1935 से आरम्भ होता है जिसे 'संधिकाल' की संज्ञा दी जा सकती है। एक ओर छायावादी काव्य–परम्परा का अन्त और दूसरी ओर प्रगतिशील काव्य परम्परा का आरम्भ हो रहा था। एक ओर छायावाद से मुक्तिबोध ने सौंदर्य दृष्टि आत्मसात की और दूसरी ओर प्रगतिशील दृष्टि। इन दोनों के योग से मुक्तिबोध का साहित्य सृजित हुआ है। मुक्तिबोध की प्रकाशित रचनाओं का विवरण दो भागों में दिया जा सकता है–

मुक्तिबोध का काव्य साहित्य

मुक्तिबोध का गद्य साहित्य

तारसप्तक।

चाँद का मुँह टेढा है।

भूरी–भूरी खाक धूल।

'तारसप्तक' : 'तारसप्तक' के प्रकाशन ने मुक्तिबोध को एक सशक्त कवि के रूप में स्थापित किया। इसमें मुक्तिबोध की 16 कविताएँ संकलित हैं जिसमें प्रगतिवादी चेतना का सशक्त प्रारम्भ होता दिखाई देता है। कुछ आरंभिक कविताओं में रहस्यवादिता, चित्रात्मकता, प्रकृति चित्रण आदि छायावाद की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है–

''घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर।
व्यापक अन्धकार में सिकुडी सोई नर की बस्ती, भयंकर।।''

'तारसप्तक' का प्रमुख स्वर प्रगतिशील चेतना ही मानना होगा। 'नाश देवता का आव्हान' में मुक्तिबोध पूँजीवाद का प्रबल विरोध करते दिखाई देते हैं। कवि 'मृत्यु और कवि'

नामक कविता में जीवन की क्षणभंगुरता को दर्शाते हुए जीवन की सार्थकता और सृजनात्मकता पर भी मौलिक विवेचन करता है।

चाँद का मुँह टेढ़ा है :

'चाँद का मुँह टेढा है' मुक्तिबोध का प्रथम काव्य संकलन है। इसे मुक्तिबोध की मृत्यु के पश्चात् श्रीकान्त वर्मा ने सन् 1964 में प्रकाशित किया। इस संकलन में मुक्तिबोध की 28 कविताएँ संकलित हैं उनमें से प्रमुख हैं– 'भूल–गलती', 'एक अर्न्तकथा', 'दिमागी गुहान्धकार का ओरांग ऊटांग', 'चकमक की चिनगारियाँ', 'एक स्वप्न कथा', 'चम्बल की घाटी में', 'जब प्रश्न चिन्ह' और 'अंधेरे में'। इन कविताओं में आत्मसंघर्ष के माध्यम से बाह्य भौतिक जगत के संघर्ष के लिए उर्जा प्राप्त के स्वर गूंजते हैं।

इस संकलन की 'ब्रह्मराक्षस' कविता अवचेतन मन का प्रतीक है जिसे मुक्तिबोध व्यक्तिगत दृष्टिकोण से व्यष्टि और समष्टि दोनों की त्रासदी का प्रतीक बना देते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' मुक्तिबोध के फैन्टेसी विधान का एक सशक्त उदाहरण भी है।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' इस संकलन की एक लम्बी कविता है। जिसमें समाज का शोषण, शोषण के साधन तथा समाज की दशा को दर्शाया गया है। यहाँ चांदनी शोषण का माध्यम बनकर आयी है।

चाँद को मुक्तिबोध ने परम्परा से हटकर एक अलग रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। उन्हें चांदनी शोषक समाज की सहयोगी लगने लगती है। चांद और चांदनी को एक अलग रूप में मुक्तिबोध प्रस्तुत करते हैं।

'ओरांग–ऊटांग' यहाँ मनुष्य के अवचेतन मन का अन्धकार है जो अपने स्वत्व या आत्मचेतना को दर्शाता है। 'लकड़ी का रावण' वर्तमान उच्चवर्गीय शोषण का, पूँजीवाद का प्रतीक है। इसकी 'विराटता' को मुक्तिबोध फैन्टेसी के माध्यम से एक खोखलापन सिद्ध करते हैं। 'चम्बल की घाटी' तथा 'अँधेरे में' इस संकलन की महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं। जिसमें आत्मपरीक्षण द्वारा सामूहिक मुक्ति की सफल तलाश है।

इस प्रकार यह संकलन एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें मुक्तिबोध ने युगीन विसंगतियाँ, समाज शोषण के हथियार, सामाजिक विकृतियों, व्यष्टि की त्रासदपूर्ण स्थितियों के विभिन्न चित्र उतारे हैं।

भूरी–भूरी खाक धूल :

यह मुक्तिबोध की कविताओं का दूसरा संकलन है। इस संकलन में सन 1949 से लेकर सन् 1963–64 तक की रचनाएँ संकलित हैं। 'भूरी–भूरी खाक धूल' में 47 कविताएँ संकलित हैं। यह कविताएँ मुक्तिबोध के काव्य का सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करने में सक्षम है। यह संकलन कवि के चिन्तन की व्यापकता और सृजन कौशल को अत्यन्त व्यापकता से स्पष्ट करता है।

इस संकलन की कविताओं में फैन्टेसी, चित्रात्मकता, अन्तर्मन की अवस्था, संवेदनशीलता, समाज की संवेदनशून्यता तथा यथार्थ भयावहता का संकेत देती है।

इस प्रकार यह संकलन नवीन पथान्वेषण का एक सफल प्रयास है। इसमें विक्षोभ भी है तथा आस्था भी, विराटता भी है और लघुता भी, संवेदनशून्यता भी है और संवेदनशीलता भी। निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध ने इस संकलन में विभिन्न भावों का सहज और स्वाभाविक अंकन प्रस्तुत किया है।

मुक्तिबोध का गद्य साहित्य :

निबंध संग्रह :

नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध

एक साहित्यिक की डायरी

नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र

समीक्षा :

कामायनी : एक पुनर्विचार

कथा संकलन :

काठ का सपना

सतह से उठता आदमी

उपन्यासः

विपात्र

निबंध संग्रह :

नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध :

इस निबंध संकलन में तेरह निबंध संकलित हैं। यह संकलन उनकी वैचारिक आधारभूमि और साहित्य प्रवृत्तियों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं का प्रत्यक्ष प्रमाण है। युगीन नूतन काव्यधारा के आत्मसंघर्ष को देखने और जीने वाले मुक्तिबोध ने उसी आत्मसंघर्ष की स्थिति को इन निबंधों में उतारा है। इसी आत्मसंघर्ष सम्बन्धी मुक्तिबोध की प्रतिक्रिया है – ''कवि को न केवल अनुभूति पक्ष के वरन् वस्तु पक्ष के उससे सम्बन्धित परिज्ञान पक्ष के विकास की अपेक्षा रहती है।''

इस निबंध संकलन में दो निबंध 'शमशेर मेरी दृष्टि में' और 'सुमित्रानंदन पन्त एक विश्लेषण' कवियों पर आधारित है। शेष ग्यारह निबंध समीक्षा तथा काव्य प्रक्रिया के चिन्तन पर आधारित है। इसी बात को मुक्तिबोध 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबंध' की भूमिका में स्पष्ट करते हैं– ''मैं, मुख्यतः विचारक न होकर केवल कवि हूँ। किन्तु आज का युग ऐसा है कि विभिन्न विषय पर उसे भी मनोमन्थन करना पड़ता है। अपने काव्य जीवन की यात्रा में मुझे जो चिन्तन करना पड़ा वह विज्ञ पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन्हें सम्भवतः शास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण सुसंगत नहीं माना जा सकता। फिर भी नवीन युग की नवीन साहित्यिक प्रक्रियाओं को, उनके प्रेरक तत्त्वों को और उनके प्रति मेरी वैचारिक प्रतिक्रियाओं को मैंने इन निबंधों में विभिन्न प्रकार से प्रकट किया है।''

नये साहित्य का सौन्दर्य शात्र :

इस संकलन में मुक्तिबोध के पन्द्रह निबंध संकलित हैं। यह निबंध भिन्न समय तथा भिन्न परिवेश में लिखे होने के कारण इन निबंधों में भाषा एवं कथ्य में गांभीर्य की दृष्टि से अन्तर है। इस रचना के अधिकांश निबंधों में रचना–प्रक्रिया के साथ नये साहित्य में उपलब्ध जीवन दृष्टि, जीवन मूल्य, समाज और साहित्य आदि प्रश्नों पर लेखक ने गंभीरतापूर्वक विचार व्यक्त किया है।

इस संकलन का प्रथम निबंध 'रचनाकार का मानवतावाद' प्रमुख रूप से रचनाकार के भीतर मानवतावाद की प्रौढ़ता की आवश्यकता को प्रस्तुत करता है। 'छायावाद', 'नयी कविता', आदि निबंध नयी कविताओं पर मुक्तिबोध का विश्लेषण है।

साहित्य को समाज से सापेक्ष मानने वाले मुक्तिबोध की दृष्टि में कलात्मक, साहित्यिक मूल्य और जीवन मूल्य में परस्पर संबंध है। जिसके विकास के लिए स्वच्छ दृष्टि, स्पष्ट लक्ष्य और पूर्वाग्रह रहित दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

संक्षेप में मुक्तिबोध की यह कृति उनके गूढ–गम्भीर, चिन्तन–मनन की शैली और साहित्य साधना की साक्षी है।

एक साहित्यिक की डायरी :

'एक साहित्यिक की डायरी' मुक्तिबोध की अन्तिम कृति है। यह लेखक के चिन्तनशील मन का प्रतिबिंब है। इस कृति में लेखक ने रचना–प्रक्रिया पर अपना सम्यक चिन्तन किया है तथा रचना प्रक्रिया समाज पर तथा जीवन की गूढ़ छाया को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है।

मुक्तिबोध ने कला के निर्माण में तीन क्षण अत्यावश्यक माने हैं– ''कला का पहला क्षण है जीवन का तीव्र अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैन्टेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैन्टेसी अपनी आँखों के सामने खडी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया या आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णवस्था तक की गतिमानता।''

सारांश रूप में 'एक साहित्यिक की डायरी' जीवन, साहित्य, युग, समाज आदि मान्यताओं पर यथार्थ चिन्तन करती है। समाज व्यवस्था और जीवन को अपनी परिधि में लपेटकर नए निष्कर्ष प्रस्तुत करने में यह कृति पूर्णतः समर्थ है।

समीक्षा :

कामायनी एक पुनर्विचार :

यह मुक्तिबोध की समीक्षात्मक कृति है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' पर यह अपने आप में एक अलग तरह का भाष्य है। यह कृति मुक्तिबोध को एक उच्चकोटि का समीक्षक सिद्ध करती है। इसमें कुल तेरह अध्याय है। मुक्तिबोध ने कामायनी को एक फैन्टेसी सिद्ध किया है। आपकी दृष्टि से कामायनी में पूँजीवाद, व्यक्तिवाद, वैयक्तिकता, साम्राज्यवादी विलासिता आदि के दर्शन होते हैं। इसी कारण मुक्तिबोध को कामायनी में सर्वत्र ब्रिटिश, फ्रेंच, अमरीकी, जर्मन साम्राज्यवाद, भूख, गरीबी आदि के चित्र अंकित दिखाई देते हैं। इसी कारण लेखक को 'कामायनी' पूँजीवादी समाज के विकास का छोटा सा इतिहास प्रतीत हुई है।

कथा–सहित्य :

काठ का सपना :

यह मुक्तिबोध की कहानियों का संकलन है। इसमें संकलित कुछ कहानियाँ सन्

1943–44 की तथा कुछ सन् 1962–63 की हैं। इन कहानियों में युगीन चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। 'क्लाड इथरली' कहानी में युगबोध का चित्रण है। 'अंधेरे में' कहानी अपने परिवेश को समग्रता से तथा ईमानदारी से उद्‌घाटित करती है। 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' कहानी कलाकार के अभिव्यक्ति की बेचैनी की प्रस्तुति है तो 'चेखव का घोड़ा' साधारण आदमी के दर्द की अभिव्यक्ति है।

सारांश रूप में 'काठ का सपना' युगीन सर्वसाधारण व्यक्ति तथा उससे जुड़ी समस्याओं को व्यक्त करने वाला सशक्त कहानी संकलन है।

सतह से उठता आदमी :

इस काहनी संग्रह में मुक्तिबोध की नौ कहानियाँ हैं। इस संकलन की कहानियाँ साधारण श्रेणी के लोगों की भावनाओं के प्रति सहानुभूति की ऊष्मा लिए हुए, मानवी आत्मा की मूल पवित्रता तथा उदार शक्ति पर गौरवपूर्ण विश्वास को चित्रित करती हैं। 'आखेट' कहानी मनुष्य के भूल–सुधार तथा हृदय परिवर्तन को व्यक्त करती है। यह नैतिकता को भी व्यक्त करती है। 'मोह और मरण' एक वृद्ध व्यक्ति की मानसिकता तथा विपन्नता की आग में झुलसते परिवार की कहानी है। 'चाबुक' कहानी पारिवारिक समस्याओं को व्यक्त करती है।

सारांश रूप में इस संकलन में वर्तमान समस्याओं को सशक्त वाणी प्रदान की गयी है।

उपन्यास :

विपात्र :

'विपात्र' 'काठ का सपना' में अन्तिम कहानी है, जिसकी कल्पना मुक्तिबोध ने उपन्यास के रूप में की थी। 'विपात्र' एक नैतिक जगत की अभिव्यक्ति है। यह बुद्धिजीवी समाज तथा व्यवस्था के प्रति प्रश्नचिह्न है। यह समाज और व्यवस्था का पात्र भी नहीं और अपात्र भी नहीं अपितु वह 'विपात्र' बन गई है। आधुनिक युग के वैषम्य, सामाजिक संत्रास तथा बुद्धिजीवियों की नपुंसकता पर मुक्तिबोध ने 'कुठाराघात' किया है।

इस प्रकार 'विपात्र' उपन्यास भी मुक्तिबोध के अन्य साहित्य की तरह वर्तमान समस्याओं को यथार्थ रूप में व्यक्त करता है।

14.4. मार्क्सवाद की बुनियादी मान्यताएँ

विद्यार्थियो! आइए अब हम मार्क्सवादी सिद्धांत की बुनियादी मान्यताओं को समझते हैं।

19वीं और 20वीं शताब्दी की विश्व की सबसे शक्तिशाली विचारधारा 'मार्क्सवाद' रही है। मार्क्सवाद अंग्रेजी के 'marxism' शब्द का हिंदी पर्याय है। इसका उद्‌भव कार्ल–मार्क्स के विचारों से माना जाता है। 'मार्क्सवाद' ऐसा संपूर्ण जीवन–दर्शन है जिसने राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, कला, साहित्य, संस्कृति, दर्शन से लेकर जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया था। मार्क्सवाद का लक्ष्य समाज सापेक्ष था। वह संपूर्ण सामाजिक स्वरूप में बदलाव लाना चाहता था। मार्क्सवाद एक ऐसी समाजवादी विचारधारा है, जिसे समाजवाद के इतिहास में वैज्ञानिक समाजवाद की गरिमा प्रदान की गई है। इसे स्वयं एंगेल्स ने 'वैज्ञानिक समाजवाद' की संज्ञा दी है। वैज्ञानिक नियमों पर आधारित होने के कारण मार्क्सवाद ने अनेक परिवर्तनों में सक्रिय भूमिका निभाई है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स का मार्क्सवाद 18 वीं 19वीं शताब्दी में एक प्रभावी विचारधारा रही है।

मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक होने का श्रेय मिला है, इस दृष्टि से उसकी विचारधारा, जो मार्क्सवाद के नाम से जानी जाती है, एक मौलिक विचारधारा मानी जाने लगी। परंतु यह भी स्मरणीय है कि मार्क्स ने अपनी विचारधारा के निर्माण में जिन भिन्न–भिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया हैं, वे उसके मौलिक सिद्धांत नहीं है। उसका वैज्ञानिक समाजवाद उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है, जिनका विचार स्वप्नलोकी समाजवादियों के मस्तिष्क में था, परंतु मार्क्स ने समाजवाद को एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने के साथ–साथ उसकी स्थापना हेतु एक ठोस कार्यक्रम भी सुझाया है। इस प्रकार उसका समाजवाद एक स्वप्नलोकी विचारधारा मात्र न रहकर, एक आन्दोलन, कार्यक्रम तथा सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का सिद्धांत बन गया है।

विद्यार्थियो! मार्क्स ने सामाजिक जीवन के वैचारिक क्षेत्र की तुलना में उसके भौतिक धरातल को ही विशेष महत्त्व दिया। उनके साहित्यिक निष्कर्षों पर विचार करने से पूर्व उनके भौतिकवादी दर्शन तथा उनके द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद : भौतिकवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है, जो भौतिक जगत् की हर वस्तु जिसमें मानव जीवन की सभी घटनाएं शामिल हैं की व्याख्या भौतिक तत्त्वों के आधार पर ही करता है। भौतिकवादी विचारक वस्तु जगत् से परे किसी स्वतंत्र सत्ता का होना स्वीकार नहीं करते; बल्कि वे पदार्थ अथवा प्रकृति को ही मूलभूत तत्त्व मानते हैं, जिसके द्वारा यह दृश्यमान भौतिक जगत् नियंत्रित एवं संचालित होता है। मार्क्स तथा एन्जेल्स के द्वारा प्रस्तुत की गयी यह विचारधारा द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में विख्यात है। यह विचारधारा समाज तथा प्रकृति की समस्त गतिशीलता, परिवर्तन तथा विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करती है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का पहला सोपान यह है कि वस्तु जगत् के तत्त्वों का निरपेक्ष अध्ययन नहीं किया जा सकता। उसका अध्ययन अन्य उपकरणों तथा तत्त्वों की सापेक्षता में ही संभव है। मार्क्स का विचार है कि वस्तु जगत् की कार्य प्रक्रिया में एक निश्चित क्रमबद्धता कार्य–कारण सम्बन्ध के रूप में सदैव वर्तमान रहती है। कोई भी वस्तु तभी क्रियाशील होती है, जब उसका कोई सुनिश्चित कारण हो। कारण के अभाव में कार्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी को 'परस्पर सम्बद्धता' (इन्टरकनेक्शन) का सिद्धांत कहा गया है। परंतु परस्पर सम्बद्धता का सिद्धांत कार्य–कारण तक ही सीमित नहीं है। इस सम्बन्ध में लेनिन का मत है कि एक स्तर पर जो कार्य है, वह दूसरे स्तर पर कारण बन जाता है और इस प्रकार एक जटिलता की सृष्टि होती है। अर्थात् प्रकृति और समाज की परस्पर सम्बद्धता कार्य–कारण सम्बन्ध से अधिक व्यापक तथा संश्लिष्ट व्यापार है और इसका सम्यक् विश्लेषण 'क्रिया–प्रतिक्रिया' के सिद्धांत द्वारा ही संभव हो सकता है। इस सिद्धांत द्वारा यह पता चलता है कि 'क्रिया–प्रतिक्रिया' के व्यापार में किस पक्ष की प्रमुख भूमिका है, इस तथ्य की खोज कर लेने के बाद ही हम प्रकृति तथा समाज के अंतः सम्बन्ध के स्रोतों का तथा उनमें अंतर्निहित तत्त्वों का ठीक–ठीक आकलन कर सकते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दूसरा सोपान यह है कि प्रत्येक वस्तु निरंतर एक गतिशील प्रक्रिया से गुजरती है। परिवर्तन तथा विकास क्रम उसके साथ हमेशा जुड़ा रहता है। मार्क्स के अनुसार पदार्थ के अभाव में गति तथा गति के अभाव में पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का मानना है कि विकास की प्रक्रिया अंतर्विरोधों पर आधारित है। लेनिन ने इसी अर्थ में विकास को विरोधी तत्त्वों की एकता संज्ञा दी थी। अर्थात् मार्क्सवाद के अनुसार असंगति ही परिवर्तन अथवा विकास का मूल आधार है।

द्वन्द्वात्मक विकास की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने निषेध और स्वीकार पर बल दिया है। प्रगति विरोधी, अप्रचलित तथा अनावश्यक तत्त्वों का निषेध तथा विकास को गति देने वाली स्थितियों का स्वीकार मार्क्सवादी विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार सामाजिक जीवन के विकास की मूलभूत प्रक्रिया को विश्लेषित करने का एक विशेष दृष्टिकोण ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा है। इसकी मूल स्थापना यह है कि सामाजिक जीवन में होने वाला परिवर्तन तथा विकास प्रकृति की तरह ही वस्तुगत नियमों के द्वारा संचालित होता है। सामाजिक जीवन की प्रक्रिया प्राकृतिक व्यापारों की तुलना में अधिक संश्लिष्ट एवं जटिल है। समाज के इतिहास का विश्लेषण करते समय हम यह पाते हैं कि समाज का हर मनुष्य सक्रिय है; परंतु उसकी सक्रियता का लक्ष्य या उद्देश्य

अलग–अलग है। उसकी आकांक्षाएँ और रुचियाँ उसकी सक्रियता को प्रभावित करती हैं। इस वजह से मनुष्यों में परस्पर टकराहट या संघर्ष की भी स्थिति आ जाती है। अतः उन परिस्थितियों का विश्लेषण सामाजिक जीवन के विकास को समझने के लिए आवश्यक है, जिनके अंतर्गत मनुष्य की आकांक्षाएँ, रुचियाँ तथा उनके उद्देश्य निर्धारित होते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज का इतिहास मूलतः उत्पादन–प्रक्रिया के विकास का इतिहास है। इसीलिए मार्क्स ने इतिहास को मनुष्य की स्वतः विकसित सामाजिक अवस्था की संज्ञा दी है। मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार श्रममूलक प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य बाह्य प्रकृति को प्रभावित और परिवर्तित करता है। साथ ही इस प्रक्रिया के दौरान वह खुद भी विकसित होता है।

मार्क्सवादी विचारधारा के अंतर्गत मनुष्य की विकास–यात्रा को चार चरणों में बांटा गया है : 1. आदिम साम्यवादी युग, 2. दास व्यवस्था युग, 3. सामंती व्यवस्था युग, 4. पूँजीवादी युग। आदिम साम्यवादी युग प्रथम चरण है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सामूहिक प्रयत्नों से होती थी। श्रम के आधार पर धीरे–धीरे कुछ मनुष्य शक्तिशाली होते गए। व्यक्तिगत प्रभाव और ताकत बढ़ने से दास युग आरंभ हो गया। आगे चलकर यंत्रों का विकास हुआ। व्यापार तथा उत्पादन के नये–नये स्रोत विकसित हुए। नये नगरों की स्थापना हुई, जो आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बने। सामंतवादी शोषण के कारण कृषक वर्ग और सामंतों के बीच विरोध की स्थिति अधिक तीव्र हो गई, जिसके परिणामस्वरूप सामंती–व्यवस्था के स्तंभ धराशायी हो गए और मानव समाज के इतिहास में एक नये युग अर्थात् पूंजीवादी युग का आविर्भाव हुआ।

इस व्यवस्था ने आरंभ में स्वतंत्रता, समता तथा बंधुत्व का नारा दिया; परंतु आगे चलकर मजदूरों और श्रमिक वर्ग का निर्मम शोषण करने लगी। औद्योगिक क्रान्ति पर आधारित इस युग में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना हुई। और उसी के साथ–साथ उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी ताकतें उभरकर सामने आई। शोषण का चक्र दिनों–दिन तीव्र गति से चलने लगा, जिसके परिणामस्वरूप समाज में वर्गीय विरोध की स्थिति उत्पन्न हुई। एक तरफ शोषक वर्ग तो दूसरी तरफ शोषित अर्थात् मजदूर और श्रमिक वर्ग। दोनों वर्गों में एक दूसरे के प्रति पनपते घृणा, विद्वेष तथा प्रतिहिंसा के परिणामस्वरूप विकसित होने वाली समाज–व्यवस्था को ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार समाजवादी व्यवस्था कहा गया है। मार्क्सवादी विचारक यह मानते हैं कि इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर सामाजिक शक्तियों का आधिपत्य होता है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलुओं का विकास समान रूप से संभव होता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार सामाजिक जीवन का यह विकास सरल, सहज तथा संघर्षरहित नहीं होता; बल्कि वह अनेक संघर्षों से होकर गुजरता है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार जिस समाज में वर्ग–विरोध की भूमिका जितनी प्रखर रहती है, जितनी तीव्रता के साथ शोषित के विरुद्ध संघर्षरत होता है, सामाजिक जीवन में उतनी ही तीव्रता के साथ प्रगति भी आती है।

मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार मनुष्य की भाव–सृष्टियाँ अथवा उसकी विचारधारा के विभिन्न रूप समाज के भौतिक धरातल से ही उद्‌भूत हैं। कवि की चेतना, उसकी भावना, अनुभूति तथा कल्पना उसके सामाजिक जीवन से हर पल प्रभावित होती है। उनके अनुसार कलाकृतियों का उद्देश्य केवल आत्मिक सुख अथवा अलौकिक आनंदानुभूति नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की संघर्षरत शक्तियों को अनुप्रेरित तथा प्रभावित करना भी है।

14.5 मार्क्सवाद और हिंदी साहित्य

सर्जनात्मक साहित्य की भाँति मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि ने हिन्दी समीक्षा को भी गहराई से प्रभावित किया और मूल्यांकन सम्बन्धी अपनी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं के द्वारा समीक्षा की एक नयी दृष्टि तथा साहित्य विश्लेषण पद्धति की प्रतिष्ठा की। इस समीक्षा–पद्धति में साहित्य समीक्षा की पश्चिमी दृष्टि और हिन्दी समीक्षा का सहज विकास परिलक्षित होता है। मार्क्सवादी समीक्षा जिस सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि को लेकर आगे बढ़ी उसकी पूर्व सूचना हमें भारतेन्दु युग में मिल जाती है। जिस प्रकार भारतेन्दुयुगीन सर्जनात्मक साहित्य अपने समय की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की देन है, उसी प्रकार उस युग की समीक्षा भी तत्कालीन समाज सुधारकों द्वारा प्रस्तुत की गई सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना के संदर्भ में व्यक्त किये गए उनके विचारों से अनुशासित है। ये विचार ही वस्तुतः उस युग की समीक्षा की प्रस्तावना का निर्माण करते हैं।

जिस जनवादी अवधारणा का आधार लेकर हिन्दी में मार्क्सवादी समीक्षा विकसित हुई, उसका बीज भारतेन्दुयुगीन रचना एवं आलोचना दोनों में दिखाई पड़ता है। वैसे तो भारतेन्दु युग में अलग से समीक्षा की व्यवस्थित परंपरा नहीं दिखाई पड़ती; परंतु रचनाशीलता के विषय में व्यक्त किए गए उस समय के रचनाकारों के विचार ही उनकी समीक्षा–दृष्टि के परिचायक हैं। भारतेन्दु युग के अत्यंत समर्थ लेखक पंडित बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास मानते हुए उसे सामाजिक भावनाओं से युक्त करके देखने का आग्रह किया है। उस युग के समीक्षात्मक लेखों को देखने से इस बात का स्पष्ट आभास मिलता है कि उस युग में साहित्यिक श्रेष्ठता का मानदंड जनता की चित्तवृत्तियों, उसकी सुरुचि तथा नैतिक आग्रहों के

संदर्भ में ही देखा जाता था। भारतेन्दुयुगीन साहित्य समीक्षा की समाज सापेक्ष दृष्टि द्विवेदी युग में और अधिक स्पष्ट, व्यापक और प्रौढ़ हुई। स्वयं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य–निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्त्व दिया, जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत–प्रोत थी। साहित्य के वर्ण्य–विषय में आमूल परिवर्तन कर उसमें व्यापकता लाने का प्रबल आग्रह इस युग की आलोचना की अपनी प्रमुख विशेषता रही।

द्विवेदीयुग की एक बहुत बड़ी उपलब्धि आचार्य शुक्ल हैं। उन्होंने साहित्य और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने साहित्य–चिंतन में प्रगति सापेक्ष मूल्यों को समाहित करने का प्रयास किया। उन्होंने ही सौंदर्य–बोध और रसानुभूति को क्षुद्र आनंद के कठघरे से निकालकर उसे लोकमंगल की उदात्त सामाजिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनके साहित्य–चिंतन के सारे आयाम कहीं न कहीं से लोक को स्पर्श करते हैं। साहित्य के उद्‌भव के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि – 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या, किसी भी कला का प्रयोजन और विकसित होता है।'

साहित्य और समाज के सम्बन्ध का आग्रह तो भारतेन्दु युग से शुरू हो गया था परंतु दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है। वे यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। सच्चा कवि वही है, जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विषमताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता का आदर्श आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का केन्द्र बिंदु है और वही मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति का प्रस्थान बिंदु है, जो आचार्य शुक्ल और मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन को जोड़ता है।

शुक्लजी के बाद आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ऐसे समीक्षक हैं, जो मार्क्सवादी समीक्षक न होते हुए भी मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन के बहुत निकट हैं। उनकी स्थापनाएँ मार्क्सवादी समीक्षा को सरलता से आगे बढ़ाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं – ऐसा कहने में कोई असंगति नहीं प्रतीत होती; कारण कि आचार्य वाजपेयी ने जीवन और साहित्य का सम्बन्ध अत्यंत व्यापक धरातल पर स्वीकार किया है। वे जीवन के बाहर साहित्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उन्होंने साहित्य की सामाजिकता और प्रगतिशीलता के मध्य कवि की संवेदनाओं को अधिक तीव्र और युगानुकूल माना है।

आचार्य वाजपेयी की प्रगतिशीलता मार्क्सवादियों की प्रगतिशीलता से भिन्न अवश्य है; क्योंकि उनकी प्रगतिशीलता दलगत विचारधारा में आबद्ध नहीं है, किन्तु फिर भी दोनों ने प्रगति को जीवन और साहित्य की एक अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में देखा है। स्वच्छंदतावादी समीक्षक होते हुए भी आचार्य वाजपेयी ने साहित्य और समीक्षा को युग जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

मार्क्सवादी समीक्षा की पृष्ठभूमि तैयार करने में जिनकी समीक्षा–दृष्टि का योगदान रहा है, वे तीसरे आचार्य हैं– डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी। द्विवेदीजी मूलतः मानवतावादी समीक्षक हैं। उनके चिंतन का फलक अत्यंत व्यापक है। उनके चिंतन से मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि को सीधी तथा सरलता से भले ही न जोड़ा जा सके; परंतु उनकी बहुत–सी स्थापनाएँ ऐसी हैं, जो मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि से मेल खाती हैं। वे प्रगतिवाद को मानवतावाद का ही एक रूप मानते हैं। साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से सम्बद्ध करने में ही वे साहित्य की संपूर्णता देखते हैं। मार्क्सवादी चिंतन की तरह द्विवेदीजी ने समाज को वर्गों में बाँटकर भले ही नहीं देखा है; किन्तु वे समस्त मानवजाति के कल्याण की बात अवश्य करते हैं। इनका मानना है कि मानवीय संस्कृति के विकास के लिए सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम साधन है। मनुष्य को, व्यक्ति को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को – आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना ही इसका ध्येय होना चाहिए। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। द्विवेदी जी की इन मान्यताओं एवं स्थापनाओं के साथ मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन के सम्बन्ध सूत्र को जोड़ने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से सम्बद्ध मानकर देखने का अनुपम कार्य द्विवेदी जी ने किया है। उसका मार्क्सवादी समीक्षा के संदर्भ में अपना विशेष महत्त्व है।

हिन्दी की मार्क्सवादी समीक्षा के सम्बन्ध–सूत्र भले ही पूर्ववर्ती समीक्षा में मिलते हों, आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी तथा आचार्य द्विवेदी की समीक्षा–दृष्टियों ने भले ही मार्क्सवादी समीक्षा के विकसित होने की भूमि प्रदान की हो; परंतु मूलतः यह समीक्षा–दृष्टि मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित है। मार्क्सवादी दर्शन मूलतः एक वस्तुवादी दर्शन है। मार्क्स काव्य तथा कला विषयक आदर्शों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े न थे। उनका चिंतन मुख्यतः सामाजिक जीवन के उद्‌भव और विकास से सम्बद्ध है। उन्होंने सामाजिक जीवन के विकास की एक ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसके अंतर्गत उन्होंने मनुष्य की कलात्मक चेतना का भी उल्लेख किया है।

मार्क्सवादी समीक्षा ने साहित्य और कला के सम्बन्ध में कुछ आधारभूत प्रश्न उठाए। उनका पहला सवाल साहित्य और समाज के सम्बन्ध को लेकर है। वैसे साहित्य और समाज के पारस्पारिक सम्बन्ध का मुद्दा कोई नया नहीं है; परंतु मार्क्सवादी समीक्षा ने इस आधारभूत प्रश्न को बहुत गहराई से उठाया। मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन के पहले साहित्य तथा कला के सम्बन्ध में यह आम धारणा थी कि साहित्य तथा कला का उद्‌भव मनुष्य के भाव या विचार जगत् में होता है। परंतु मार्क्सवादी साहित्य समीक्षकों ने यह घोषणा की कि मनुष्य के सामाजिक–भौतिक जीवन के बीच ही साहित्य तथा कला का जन्म होता है।

इस प्रकार समाज से ही साहित्य या कला की उत्पत्ति मानकर मार्क्सवादी समीक्षा ने न केवल साहित्य तथा मनुष्य के सामाजिक जीवन की अभिन्नता को स्वीकार किया, बल्कि सामाजिक जीवन के संदर्भ अथवा उसी के परिप्रेक्ष्य में साहित्य या कला के मूल्यांकन की आवश्यकता का भी प्रतिपादन किया। अर्थात् साहित्य समीक्षा के रूपवादी या कलावादी मानदंडों के विपरीत मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन ने साहित्य के मूल्यांकन की सामाजिक कसौटी की स्थापना की।

साहित्य तथा समाज के सम्बन्धों की अभिन्नता को स्वीकार करते हुए मार्क्सवादी समीक्षा ने समाज तथा साहित्यकार के सम्बन्धों की भी चर्चा की है। चूँकि साहित्यकार समाज का एक अंग है इसलिए उसके भाव–जगत् पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। साहित्यकार जिस सामाजिक परिवेश में रहता है, उससे वह तटस्थ या निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसके भाव–जगत् का निर्माण वे परिस्थितियाँ ही करती हैं, जिनमें वह साँस लेता है, जीता है। ऐसी स्थिति में यह बात स्वतः सिद्ध है कि किसी भी रचना का मूल्यांकन उसके रचयिता के सामाजिक संदर्भों से काटकर नहीं किया जा सकता। कृति के मूल्यांकन के समय इस बात की खोज होनी चाहिए कि उसके रचयिता ने अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियों को अपनी रचना में ईमानदारी से अभिव्यक्त किया है या नहीं? किया है तो किस रूप में? और यदि नहीं किया है, तो इसके क्या कारण हो सकते हैं? साहित्य–समीक्षा का यह एकदम नया प्रतिमान और नयी पद्धति सर्वप्रथम मार्क्सवादी समीक्षा ने ही दी।

मार्क्सवादी समीक्षा ने साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष (शिल्प पक्ष) का मूल्यांकन भी सामाजिक जीवन से जोड़कर किया, कारण कि रचनाकार की भाषा, शैली, कल्पना, बिंब आदि सब उसके सामाजिक जीवन की अनुभूतियों एवं संस्कारों से निर्दिष्ट होते हैं।

सामाजिक जीवन और साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रस्थापित करने के साथ ही मार्क्सवादी समीक्षा ने साहित्य में यथार्थवाद का नारा भी बुलंद किया और साहित्य में जीवन के यथार्थ के चित्रण या अभिव्यक्ति के प्रश्न पर बड़ी गहराई से विचार किया।

साहित्य में सामाजिक यथार्थ पर बल देने का अर्थ यह नहीं कि मार्क्सवादी समीक्षा कल्पना या आदर्श को नहीं मानती। कल्पना और आदर्श का महत्त्व मार्क्सवादी समीक्षा में भी स्वीकार किया जाता है परंतु वहीं तक जहाँ तक उनका सम्बन्ध यथार्थ से बना रहता है। यथार्थ की भूमि पर खड़ी कल्पना ही मार्क्सवादी समीक्षा में स्वीकार्य है। यथार्थ से असंपृक्त तथा सामाजिक हित से विमुख कल्पना तथा यथार्थ का मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि में कोई स्थान नहीं है।

मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह भी है कि किसी भी समाज की कला, संस्कृति, राजनीति, दर्शन आदि आर्थिक धरातल पर ही खड़े होते हैं।

सामाजिक–आर्थिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य या कला पर तो पड़ता ही है, परंतु साहित्य या कला भी आर्थिक–सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। उसके अनुसार सच्चे तथा समर्थ साहित्य का यह प्रधान चरित्र है कि वह आर्थिक–सामाजिक जीवन पर अपना प्रभाव भी छोड़े।

मार्क्सवादी दर्शन चूँकि समाज को वर्गबद्ध मानता है; इसलिए मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन के अनुसार साहित्य या साहित्यकार भी अपने–अपने वर्गों के हिमायती बनकर सामने आते हैं। मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि वर्ग निरपेक्ष साहित्य सृजन को महज एक भ्रान्ति मानती है। उसके अनुसार वर्गहीन समाज में ही वर्ग निरपेक्ष साहित्य की रचना हो सकती है, जबकि वास्तविकता यह है कि समाज वर्गों में विभाजित है और साहित्यकार अपने साहित्य में अपने वर्ग के हितों को ही प्रश्रय देता है। इस दृष्टि से मार्क्सवादी समीक्षा शोषित, पीड़ित वर्ग के हितों को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य का पक्षधर है। मार्क्सवादी समीक्षा इस तथ्य को परखने पर बल देती है कि रचनाकार ने अपनी रचना में समाज के किस वर्ग की विचारधारा अथवा हितों का समर्थन किया है। यदि उसने शोषित, पीड़ित तथा अपने जीवन को बदलने के लिए संघर्ष करते जन समुदाय की आशा–आकांक्षाओं को वाणी दी है, शोषक वर्ग की विचारधारा तथा क्रिया–कलापों का पर्दाफाश करते हुए युग सत्य को उभारा है, तो निश्चित रूप से उसे तथा उसकी कृति को प्रगतिशील माना जाएगा। परंतु इस संदर्भ में मार्क्सवादी समीक्षा यह भी स्वीकार करती है कि प्रत्येक समाज में ऐसे भी रचनाकार हुए हैं और हो सकते हैं, जो अपनी वर्ग–चेतना का अतिक्रमण करके व्यापक धारतल पर पहुँच जाते हैं और वे जिस साहित्य की रचना करते हैं, वह वर्ग निरपेक्ष साहित्य होता है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी जैसे कवि इसी कोटि में आते हैं।

मार्क्सवादी समीक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण परंपरा–प्रेम के नाम पर समूची परंपरा की स्वीकृति को भी हितावह नहीं मानता; क्योंकि किसी भी परंपरा में जीवन्त और मृत दोनों प्रकार

के तत्त्व विद्यमान होते हैं। मार्क्सवादी समीक्षा को जीवन्त तत्व ही स्वीकार्य हैं। उसके अनुसार परंपरा–प्रेम के नाम पर निष्प्राण, जर्जर तथा रूढ़ तत्वों को प्रश्रय देने से जीवन तथा समाज का स्वस्थ विकास अवरुद्ध हो जाता है। यही नहीं, मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि ने परंपरा के स्वस्थ तथा जीवित तत्वों का निर्देश भी किया है। उसके अनुसार जनहित तथा समाज हित के पोषक तत्व जीवन्त तत्व हैं तथा प्रगति के अवरोधक तत्व मृत तथा निष्प्राण तत्व हैं।

मार्क्सवादी जीवन–दर्शन के अनुसार समाज में हर क्षण और हर स्तर पर दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष जारी रहता है और इसी संघर्ष के माध्यम से समाज में विकास की गति बनी रहती है।

मार्क्सवादी समीक्षा–दृष्टि ने एक और भी आधारभूत प्रश्न उठाया है – 'साहित्य किसके लिए अथवा साहित्य की रचना किसके लिए' हालाँकि यह प्रश्न कोई नया नहीं है; परंतु मार्क्सवादी समीक्षा ने इस प्रश्न पर पूरी गंभीरता और गहराई से विचार किया है। उसने साहित्यकारों से आग्रह किया है कि वे जनता के लिए तथा जनता के हित में लिखें। उस व्यापक, विस्तृत और वृहद्–जन समूह के लिए लिखें, जो सुविधाहीन, शोषित तथा पीड़ित है। यह गौरतलब बात है कि मार्क्सवादी चिंतन ने सर्वप्रथम साहित्य में आम आदमी को स्थान देने की हिमायत पूरी गंभीरता से की। उसने आम आदमी की इच्छाओं तथा उसके सौंदर्य बोध की अभिव्यक्ति का रास्ता साफ किया।

मार्क्सवादी समीक्षा काव्य के विषय में ब्रह्मानंद सहोदर की मान्यता का विरोध करती है। हालाँकि रस के साथ उसका कोई विरोध नहीं है, बल्कि विरोध उसकी अलौकिकता का है। इसीलिए मार्क्सवादी समीक्षक रस के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के इस मत का समर्थन करते है, जिसमें उन्होंने – 'लोकहृदय में लीन होने की दशा का नाम रसदशा है' कहकर रस की व्याख्या की है। मार्क्सवादी समीक्षा को काव्यानंद से कोई परहेज नहीं है, किन्तु वह कोरे अर्थात् निष्क्रिय आनंद को अस्वीकार करती है। इस संदर्भ में मार्क्सवादी समीक्षक पूरी तरह आचार्य शुक्ल के समर्थक हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के चलते उस पर उपयोगितावादी होने का आरोप लगाया जाता है। इस संदर्भ में डॉ. शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि 'व्यक्ति की रागात्मक वृत्तियों का परिष्कार कर, उसके सौंदर्य बोध पर सान चढ़ाकर, उसके भावबोध को व्यापक तथा विस्तृत बनाकर यदि कृति समाज तथा जीवन को बदलने में उसकी सहायता करती है, उसे अधिक सक्षम तथा समर्थ बनाती है और इस प्रकार एक स्वस्थ मानव–जीवन की रचना में अपनी उपयोगी भूमिका का उदाहरण प्रस्तुत करती है, तो यह तो कृति की सच्ची सार्थकता तथा रचनाकर की चरितार्थता है। यह उपयोगितावादी भूमिका यदि किसी को अग्राह्य है, तो हो प्रगतिशील साहित्यकार के लिए नहीं है।

मार्क्सवादी समीक्षा ने सौंदर्यानुभूति के प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किया है। जैसा कि भाववादी चिंतक सौंदर्य को व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं अर्थात् उसकी स्थिति व्यक्ति के मन में मानते हैं, जबकि मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार रस की सत्ता वस्तुगत है।

मार्क्सवादी कलाचिंतन की यह स्पष्ट मान्यता है कि लोकजीवन से अर्थात् जनता से विच्छिन्न कलाकृति का सौंदर्य फीका और प्रभावहीन होता है। किसी भी रचना का मूल्यांकन करते समय इस बात की छानबीन की जानी चाहिए कि उस रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है और उस पर सामाजिक जीवन का कितना प्रभाव पड़ा है? इसी के आधार पर उस रचना की सौंदर्य–शक्ति का आकलन हो सकता है इसीलिए मार्क्सवादी समीक्षा यह मानती है – लेखक में रचना–शक्ति जनता से आती है। जनता के साथ उसका सम्बन्ध जितना प्रगाढ़ होगा, उसकी रचना उतनी ही अधिक सुन्दर होगी।

साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में लेखक या कलाकार की स्वतंत्रता का प्रश्न समय–समय पर उठता रहा है और इसी संदर्भ में मार्क्सवादी साहित्य समीक्षा पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि मार्क्सवादी समीक्षा लेखक की वैयक्तिक स्वतंत्रता को कुचल देती है; कारण यह कि मार्क्सवादी समीक्षा के मत से रचनाकार समाज–निरपेक्ष साहित्य की रचना करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। वहाँ तो वह आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। किन्तु मार्क्सवादी समीक्षक इस आरोप का जोरदार ढँग से खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि मार्क्सवादी जीवन दृष्टि का मूल मंत्र ही है – साहित्य या कला के माध्यम से व्यक्ति की स्वतंत्रता। मार्क्सवादी समीक्षा दायित्व हीनता अथवा समाज निरपेक्षता को सच्चे अर्थों में स्वतंत्र नहीं मानती। इसीलिए इसका कड़ा विरोध करती है। वह व्यक्ति से बड़ा समूह या समाज को मानती है। व्यक्ति हित के लिए समाज हित को खतरे में नहीं डाला जा सकता।

मार्क्सवादी समीक्षा यह प्रश्न उठाती है कि स्वतंत्रता किससे? समाज से या समाज में व्याप्त उन शक्तियों से? जो मनुष्य के जीवन को कठिन बनाए हुए है। मार्क्सवादी साहित्य–समीक्षा की दृष्टि में साहित्य और साहित्यकार दोनों को समाज के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। जीवन तथा समाज से निरपेक्ष साहित्य उसे मान्य नहीं है। रचनाकार की भूमिका समाज में रचनात्मक होनी ही चाहिए।

साहित्य रचना की समाज सापेक्षता के सिद्धांत पर खड़ी मार्क्सवादी समीक्षा का व्यावहारिक समीक्षा कार्य भी अत्यंत व्यापक और महत्वपूर्ण है। मार्क्सवादी समीक्षकों ने प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक काल के साहित्य तक को अपने अध्ययन एवं मूल्यांकन का विषय बनाया है लेकिन दृष्टिकोण उनका वही रहा है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल वीरगाथाओं का

काल रहा। उस युग की कविताएँ राजाओं की प्रशस्तियों के रूप में हैं। राजाओं की वीरता का आख्यान कवियों ने किया है। राजाओं–महाराजाओं का आपसी ईर्षर्या–द्वेष, मानापमान, सामंती ऐंठ आदि, उन वीरकाव्यों (युद्धकाव्यों) की पृष्ठभूमि रही है। उन कृतियों का मूल्यांकन मार्क्सवादी समीक्षकों ने सामंतयुगीन समाज–व्यवस्था के संदर्भ में किया है। उनका ध्यान वीररस या शृंगार रस के आधार पर उन कविताओं का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन करने की ओर नहीं रहा है।

भक्तियुगीन रचनाओं की समीक्षा करते समय मार्क्सवादी समीक्षकों का झुकाव भक्ति आंदोलन की सामाजिक भूमिका के आख्यान की ओर अधिक रहा है। उस युग के संत तथा भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा जन सामान्य की आस्था को किस तरह जिलाए रखा तथा उन्हें प्रेम और मनुष्यता का पाठ पढ़ाया, इन तथ्यों पर मार्क्सवादी समीक्षकों ने विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। संत कवियों की रचनाओं के जितने अंश का सम्बन्ध सामाजिक भूमिका के साथ है, उतने ही अंशों को इन समीक्षकों ने अपने विवेचन का विषय बनाया है। रहस्यवाद या अध्यात्मवाद वाले अंशों को प्रायः छोड़ दिया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी साहित्य के लोकपक्ष पर विवेचन प्रस्तुत किया है।

रीतिकालीन कविताएँ अपनी मूल प्रकृति में कवियों के आश्रयदाताओं के विलास के लिए लिखी गई कविताएँ हैं। उनका लोकजीवन के साथ कोई सकारात्मक सम्बन्ध नहीं है। मार्क्सवादी समीक्षकों ने उस काल की कविताओं का विवेचन सामाजिक भूमिका से कटे हुए पतनशील साहित्य के रूप में किया है। उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि उस युग का साहित्य जन सामान्य से कितनी दूर चला गया था, दोनों के बीच कितनी गहरी खाई बन गई थी। उस युग की कविता विलासी सामंतों के दरबारों की रौनक बढ़ाने वाली भूमिका अदा करने लगी थी। उस काल में भूषण जैसे भी कुछ कवि थे, जो युग–प्रवृत्ति (शृंगार) के विपरीत वीर रसपूर्ण कविताएँ लिख रहे थे। मार्क्सवादी समीक्षकों ने ऐसे कवियों का मूल्यांकन करते समय इस बात की ओर ध्यान दिया है कि ये कवि तमाम रीतिकालीन सीमाओं के बावजूद कुछ भिन्न तथा ऊपर उठे हुए दिखाई पड़ते हैं।

आधुनिक युग के साहित्य विवेचन में मार्क्सवादी समीक्षा का पूर्ण विकास एवं विस्तार दिखाई पड़ता है। मार्क्सवादी समीक्षकों ने इस युग के साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों एवं विधाओं पर पूरे मनोयोग से कलम चलाई है। सभी महत्वपूर्ण रचनाकारों तथा उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं का मूल्यांकन सर्वांगीण रूप से किया है। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक थे। वे ही आधुनिक चेतना के प्रथम वाहक माने गए हैं। यही कारण है कि लगभग सभी

मार्क्सवादी समीक्षकों में भारतेन्दु के कर्तव्य की युगान्तरकारी भूमिका पर विस्तार से प्रकाश डाला है। ..... भारतेन्दु की साहित्य चेतना किस प्रकार राष्ट्र की प्रगतिशील भूमिका से अनुस्यूत थी, किस प्रकार वे साहित्य की जनवादी–यर्थाथवादी परंपरा के प्रथम उन्नायक बनकर सामने आए, उनकी असंगतियाँ दिखाते हुए भी, मूल स्थापनाएँ यही की गई हैं। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' तथा 'भारतेन्दु और उनका युग' नामक डॉ. रामविलास शर्मा की ये दो पुस्तकें उस युग की राजनीतिक, सामाजिक पृष्ठभूमि का विस्तृत लेखा–जोखा प्रस्तुत करती हैं। द्विवेदीयुगीन साहित्य की सामाजिक भूमिका का विवेचन इन समीक्षकों ने आचार्य शुक्ल तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक कार्यों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

छायावाद युगीन कविताओं की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसके संदर्भ में उनकी मूल्यवत्ता पर भी मार्क्सवादी समीक्षकों ने विस्तार से लिखा है। शिवदान सिंह चौहान ने छायावादी कविता को सामाजिक पृष्ठभूमि और छायावादी कवियों की व्यक्ति चेतना का अध्ययन करते हुए अंत की रचनाओं का सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इसी तरह डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रसाद और निराला की साहित्यिक उपलब्धियों को रेखांकित किया है। वैसे तो छायावादी काव्य का प्रसार बहुत व्यापक है, किन्तु मार्क्सवादी समीक्षकों ने स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के दायरे में ही उसे स्वीकार किया है।

छायावाद के बाद हिन्दी साहित्य का परिदृश्य एकदम बदला हुआ है। प्रगतिवादी कविता ने अपनी सामाजिक भूमिका और जनवादी चेतना के कारण सभी मार्क्सवादी समीक्षकों को आकर्षित किया। इसके विपरीत प्रयोगवादी कविता तथा नयी कविता की असामाजिक भूमिका, व्यक्तिवादिता तथा पश्चिमी पतनशील परंपराओं के प्रभाव के कारण मार्क्सवादी आलोचकों की आलोचना का विषय बनी। उधर कथा साहित्य में प्रेमचन्द को प्रगतिशील जनवादी आस्थाओं के कारण मार्क्सवादी समीक्षकों द्वारा काफी महत्व मिला; जबकि व्यक्तिवादी धारा के कथाकार अज्ञेय को उनकी असामाजिक भूमिका के कारण बहुत महत्व नहीं दिया गया।

इस सारे आकलन के बाद यह बात साफ हो जाती है कि अपनी वैज्ञानिक दृष्टि और सामाजिक भूमिका के कारण हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी समीक्षा ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। मार्क्सवादी समीक्षा की सारी गतिविधियाँ समाज सापेक्ष और साहित्य में प्रगतिशील तत्त्वों की खोज पर आधारित हैं; और इस दृष्टि से देखा जाए तो भारतेन्दु युग से लेकर वर्तमान समय तक का पूरा समीक्षा कार्य किसी न किसी रूप में इसके प्रभाव में आ जाता है। आगे हम प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षकों के समीक्षा कार्य का संक्षिप्त लेखा–जोखा प्रस्तुत करेंगे।

14.6 हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षक :

शिवदानसिंह चौहान :

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के प्रारंभिक प्रमुख कर्णधारों में शिवदान सिंह चौहान का नाम लिया जाता है। वे हिन्दी के प्रगतिशील आन्दोलन के साथ जुड़े रहे। प्रेमचन्द के बाद उन्होंने प्रगतिशील पत्र 'हंस' के संपादन का भार सँभाला और अपने संपादकीय और निबंधों द्वारा प्रगतिशील विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट और स्वस्थ रहा है। कलात्मक अभिरुचि भी परिष्कृत रही है। सन् 1937 में प्रकाशित 'हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नामक लेख हिन्दी मार्क्सवादी समीक्षा में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसमें उन्होंने पहली बार मार्क्सवादी आदर्शों के विवेचन का प्रयत्न किया था। श्री चौहान की समीक्षाओं में प्रगतिवादी दृष्टिकोण के रूखे–सूखे अभिव्यंजना का पिटा–पिटाया आदेश नहीं रहता। वे सौंदर्यानुभूतियों, मानव की सहज संवेदनाओं, विकसित कलात्मक उपलब्धियों को साहित्य में स्थान देने के पक्षपाती रहे हैं। वे इस तथ्य को पूरी तरह स्वीकार करके चलने वाले समीक्षक थे कि प्रगतिशील आन्दोलन केवल मत–प्रचार का आन्दोलन नहीं है; बल्कि वह एक वैज्ञानिक तथा सार्वभौम दृष्टिकोण है, जो एक तरफ जनवादी समाज की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील है, तो दूसरी तरफ इतिहास की सही व्याख्या भी प्रस्तुत करने की कोशिश में लगा है। इसीलिए वे कहते हैं – 'साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट या सार भाग है।''

प्रगतिवाद के समर्थक होते हुए भी चौहान उसकी खामियों के प्रति सावधान दिखाई पड़ते हैं। वे प्रगतिवाद के नाम पर सामयिक आन्दोलन को लिपिबद्ध करने वालों को और कुत्सित समाजशास्त्रियों को प्रगतिवाद की संकीर्ण सीमा के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि कुत्सित समाजशास्त्री जब प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं, उनका मानदंड लेखक दर लेखक बदलता जाता है। यही नहीं, उनके मानदंड राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव के साथ भी बदल जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक ही लेखक उन्हें कभी प्रतिक्रियावादी नजर आता है, तो कभी प्रगतिशील। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि 'प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है, अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया, तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है।'

साहित्य के क्षेत्र में आदिकाल से ही विषय वस्तु के साथ–साथ भाषा–शैली में भी निरंतर बदलाव होता आ रहा है। रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति को अधिकाधिक प्रभावशाली एवं

संप्रेषणीय बनाने के लिए निरंतर नये–नये प्रयोग करते रहे हैं। श्री चौहान के अनुसार सभ्यता और संस्कृति के सभी उपकरण और उपलब्धियाँ मनुष्य द्वारा किये गए नये निरंतर प्रयोगों का ही परिणाम है। इस सम्बन्ध में श्री चौहान 'हिन्दी के प्रयोगवादी' अथवा 'नयी कविता' के प्रवक्ताओं को लक्ष्य करके आगे लिखते हैं – आधुनिक युग में प्रयोग की समस्या पर विचार करते समय हर प्रकार की संकीर्णताओं और पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए।'

साहित्य का प्रयोजन या उद्देश्य हर युग के साहित्य समीक्षकों के चिंतन का विषय रहा है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य (साहित्य) के अनेक प्रयोजन बताये हैं; किन्तु मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता पर बल दिया है। चौहान कला या साहित्य के प्रचारात्मक उद्देश्य को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रतिमानों की उपेक्षा नहीं करते। इस संदर्भ में उनका यह कथन द्रष्टव्य है – हम लेखकों का प्रचार साहित्य 'सत्य' – केवल 'मूर्त सत्य' पर ही आधारित होना चाहिए – असत्यपूर्ण, अतिरंजित, तिलस्मी या सनसनीखेज प्रचार जनवादी साहित्यकारों का अस्त्र नहीं है; न राजनीतिज्ञों की तरह हमारे प्रचार का तरीका आँकड़ों और शुष्क अमूर्त विचारों से सिद्ध करना ही हो सकता है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक कला उद्देश्यपूर्ण होती है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आज संकीर्णता और अराजकता का बोलबाला दिखाई पड़ रहा है। संकीर्ण और अनुदार विचारधाराएँ आज के समीक्षक की अभिरुचि को कुंठित कर चुकी है। वह कृति में व्यापक मानवीय मूल्यों की खोज करने के बजाय पूर्व कल्पित किसी मूल तत्व की छानबीन में व्यस्त है। परिणाम स्वरूप साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के सूत्र उसके हाथ से छूटते जा रहे हैं। श्री चौहान के मतानुसार दल विशेष से तटस्थ महान साहित्यिक कृतियाँ आज उस महत्त्व की अधिकारिणी नहीं है, जिस महत्त्व का श्रेय दल विशेष से सम्बद्ध निम्न कोटि की कृतियों को प्राप्त है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक उदारवादी तथा समन्वयकारी प्रगतिशील समीक्षक के रूप में श्री शिवदानसिंह चौहान का नाम भले लिया जाता है। उनकी एकमात्र कृति 'आलोचना के सिद्धान्त' को परिचयात्मक कृति की ही संज्ञा दी जा सकती है। 'साहित्य की परख' तथा 'आलोचना के मान' जैसे कुछ महत्वपूर्ण निबन्धों के अलावा उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा की तरह कोई व्यापक और समृद्ध कार्य नहीं किया।

इसके अलावा श्री चौहान ने 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' नामक अपनी कृति में इतिहास लेखन की पूर्ववर्ती परंपरा को अनैतिहासिक घोषित करते हुए कहा है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास केवल एक शताब्दी का ही इतिहास है। उन्होंने कविता, नाटक, उपन्यास,

निबन्ध, कहानी आदि साहित्य रूपों का स्वतंत्र एवं अलग–अलग विकास क्रम दिखाया है। उनका यह इतिहास लेखन सर्वथा मौलिक होते हुए भी निर्भ्रांत नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी भी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का निर्धारण उसके समस्त रूपों अथवा अंगों को समाहित करके ही किया जा सकता है। साहित्य का इतिहास स्वयं में एक समन्वित इकाई होता है; उसके अंतर्गत काव्य अथवा साहित्य के विभिन्न रूपों की स्वतंत्र स्थिति स्वीकार्य नहीं होती। इसीलिए श्री चौहान का यह विवेचन महत्वपूर्ण और नवीन होते हुए भी हिन्दी साहित्य के विकास की समग्रता का न तो परिचायक कहा जा सकता है, और न इतिहास लेखन की किसी वैज्ञानिक विधि का प्रवर्तक ही। इसके बावजूद शिवदान सिंह चौहान की समीक्षा–पद्धति तथा समीक्षा–दृष्टि के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे अन्य प्रगतिशील समीक्षकों की तुलना में अधिक संयत एवं संतुलित रहे हैं। उनके कुछ निबन्धों के अलावा उनकी अधिकांश रचनाएँ व्यक्तिगत आरोप–प्रत्यारोप की शैली से मुक्त हैं। उनमें साहित्येतर तत्त्वों के बजाय साहित्यिक तत्त्वों की प्रधानता है।

डॉ. रामविलास शर्मा :

डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी की ममार्क्सवादी समीक्षा में प्रथम कोटि के प्रतिबद्ध समीक्षक माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य में उनका उदय प्रथमतः एक कवि के रूप में हुआ था। अज्ञेय द्वारा सन् 1943 में संपादित 'तारसप्तक' के एक कवि के रूप में उनको ख्याति मिली। समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रवेश सन् 1936 के पूर्व लिखे उनके समीक्षात्मक निबन्धों से हुआ। आरंभ में वे स्वच्छंतावादी समीक्षक के रूप में उभरे। उस समय निराला के काव्य–सौंदर्य का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा था कि कविता ह्रदय की भाषा है, उसको समझने के लिए अधिक आवश्यकता भावुकता की है, न कि फिलासफी की।' परंतु आगे चलकर वे प्रगतिशील आन्दोलन के साथ जुड़ गए और निरंतर उसी दिशा में आजीवन कार्य करते रहे। वे मार्क्सवाद के पक्के समर्थक थे। कहा जाता है कि उनकी समीक्षा पद्धति पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का व्यापक प्रभाव है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की परंपरा को सही माने में विकसित किया है।' डॉ. शर्मा अपनी सूझ–बूझ, पैनी दृष्टि निर्भीकता और कुछ हद तक अक्खड़पन के लिए विख्यात रहे हैं। परिस्थितिवश अक्खड़पन उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गया था।

सैद्धान्तिक समीक्षा और व्यावहारिक समीक्षा दोनों में डॉ. शर्मा जी का व्यक्तित्व अत्यंत प्रखर एवं आक्रामक रहा है। वे साहित्य में सामाजिक यथार्थ के समर्थक रहे हैं। उनके अनुसार साहित्य में मानवता स्थापित करने के लिए पुरानी जर्जर शक्तियों से संघर्ष करती हुई नयी सामाजिक शक्तियों का ही चित्र होना चाहिए। वे पुराने आचार्यों के इस कथन से असहमत होते

हैं कि काव्यानंद ब्रह्मानंद सहोदर है, अलौकिक है। वे पाठक या दर्शक के भीतर चलने वाली साधारणीकरण की प्रक्रिया से भी अपनी असहमति जताते हैं। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति–व्यक्ति की प्रकृति और भिन्न–भिन्न प्रकार के चिंतन के कारण सब में रसानुभूति भी अलग–अलग होती है। उन्होंने रस की अलौकिकता में काव्य को फँसाकर उसके सामाजिक कर्तव्य की ओर से आँख मूंदने वाली मान्यता को अनावृत किया है। उन्होंने रसानुभूति को यथार्थवादी दर्शन और सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर परखा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि सभी कालों के पाठकों की रुचियों में भेद हुआ करता है। यही नहीं, एक व्यक्ति के काव्यानंद में कालभेद से परिवर्तन आ जाता है। इसलिए यह कैसे मान लिया जाये कि रसानुभूति कोई शाश्वत और सर्वमान्य वस्तु है। वह तो व्यक्ति–व्यक्ति संस्कार और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर परखी जानेवाली वस्तु है।

डॉ. शर्मा अतीत या परंपरा को अस्वीकार या उससे घृणा नहीं करते। वे कहते हैं कि वर्तमान जीवन संघर्ष में प्रेरणा देने वाली अतीत की उपलब्धियों को हमें स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि अतीत के जीवन साहित्यों में अपने युग के जीवन की सच्ची तस्वीर होती है। उनके अनुसार इसलिए भी उपेक्षणीय नहीं है; क्योंकि उसी के गर्भ से वर्तमान का उदय होता है। ऐतिहासिक विकास की गति को समझने के लिए अतीत की नब्ज का ज्ञान परम आवश्यक है।

किसी भी रचना के साहित्यिक सौंदर्य को रामविलास विषय, भाव, विचार और व्यंजना प्रणाली के मिले–जुले रूप पर आधारित मानते हैं – वह रचना चाहे अतीत की हो या वर्तमान की; एक सफल साहित्यिक रचना में विषय और व्यंजना का सामंजस्य होना ही चाहिए। जहाँ तक विषय और शैली की बात है, वे शैली से अधिक महत्त्व विषय को देते हैं। विषय का सामाजिक होना और जनजीवन से सम्बद्ध होना वे अनिवार्य मानते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शैली उनकी दृष्टि में कम महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में बिना शब्द–शोधन और अभिव्यक्ति साधना के अपने महान विचारों और भावों को भी सफल रूप में पाठकों के सामने रखना मुश्किल होता है। भाषा का परिष्कार और उस पर सम्यक् अधिकार विषय को और चमका देता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात ऐसी नहीं है कि भाषा जनजीवन में व्यवहृद प्रवाहमयी भाषा हो।''

डॉ. रामविलास जी पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि वे इतिहास को वर्तमान के साँचे में ढालने की कोशिश करते हैं। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं हैं। उन्होंने तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला आदि को यदि अपने जमाने का क्रान्तिकारी कवि कहा है, तो वह इस अर्थ में कि इन कवियों ने अपने युग की शोषण की प्रवृत्तियों का खंडन किया और जनता का चित्रण करके मानवतावादी परंपरा को आगे बढ़ाया।

डॉ. रामविलास शर्मा का मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का ही रहा है। उसमें भी उनकी दृष्टि विषय पक्ष पर विशेष रही है। विषय में कहीं–कहीं वे स्थूल पक्ष को ही ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। विषय–निरूपण में उनकी प्रणाली दो धाराओं में स्पष्ट बँटी हुई दिखाई पड़ती है। जहाँ किसी की स्तुति करनी होगी, वहाँ वे उसके साहित्य में से उत्तम अंश ढूँढ–ढूँढकर एकत्र कर देंगे और जहाँ किसी पर बिगड़ खड़े होंगे, वहाँ उसके दोषों को चुनकर आपके सामने लाकर पटक देंगे। इसका खामियाजा (दुष्परिणाम) शिवदानसिंह चौहान, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, अश्क आदि को भुगतान पड़ा है। ये सभी प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) विचारधारा के लेखक रहे हैं। शर्माजी ने उनकी रचनाओं में से उनकी असंगतियों को चुन–चुनकर उन्हें सामंतवादी और पूँजीवादी मनोवृत्ति का लेखक घोषित कर दिया है।

वैसे तो डॉ. शर्मा प्रबल मार्क्सवादी समीक्षक हैं; परंतु अपनी व्यावहारिक समीक्षा के दौरान स्थान–स्थान पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के साहित्यिक दृष्टिकोण तथा निष्कर्षों से स्वंय को उपकृत किया है। शायद इसीलिए कुछ विद्वानों ने शर्माजी को शुक्ल परंपरा का समीक्षक माना है।

डॉ. शर्मा के समस्त समीक्षा कार्य पर दृष्टि डालने से एक बात स्पष्ट होती है कि उनके विवेचन में नकारात्मक वृत्ति का प्राधान्य रहा है। उसमें व्यक्तिगत आरोप–प्रत्यारोप के साथ–साथ उसमें व्यंग्य का प्राचुर्य रहा है। शर्माजी अपने विरोधियों को मर्माहत कर देने की अद्‌भुत क्षमता रखते थे। इस कारण अनेक स्थलों पर साहित्यिक मर्यादा की रक्षा नहीं हो पाई है। शायद इसका कारण यह रहा हो कि स्वयं उन्हें अनेक तरह के आक्षेप सहन करने पड़े थे। अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का खुलकर जवाब देना पड़ा था। शायद इसी कारण उनका लेखन अधिकाधिक आक्रामक लगता है। जहाँ–जहाँ वे वैयक्तिक आरोप–प्रत्यारोप तथा खंडन–मंडन की प्रक्रिया से मुक्त रहे हैं, वहाँ–वहाँ उनका लेखन अत्यंत विचारोत्तेजक बन गया है। डॉ. रामदरश मिश्र के शब्दों में कहें तो शर्मा जी की लेखनी में नवीनता है, मौलिकता है, वे पिटे–पिटाए, घिसे–घिसाए मार्ग से चलना पसंद नहीं करते। उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है और पाठकों को सीधे प्रभावित करती है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त :

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का उदय हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन के आरंभ के आस–पास माना जा सकता है। वे अन्य मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षकों की तरह मताग्रही समीक्षक नहीं है। प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) समीक्षा के अंतर्गत गुप्तजी की समीक्षा शैली अपना, स्वतंत्र मूल्य रखती है। उनकी समीक्षा में भले ही तात्त्विक गहराई का अभाव है,

फिर भी उसमें सरलता और सहजता का ऐसा पुट है, जो साहित्य समीक्षा को जनता तक ले जाता है।

गुप्तजी की सैद्धान्तिक पीठिका भले ही मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित है; परंतु उन्होंने अपने समीक्षात्मक निबंधों में साहित्यिक मानदंडों को अग्रिमता प्रदान की है। वे समीक्षक की मर्यादा तथा तटस्थता की बहुत दूर तक रक्षा करने में सफल हो सके हैं। उन्होंने अन्य कतिपय मार्क्सवादी समीक्षकों की भाँति आपसी झगड़ों में पड़ने के बजाय हिन्दी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यकारों का प्रगतिवादी पद्धति से मूल्यांकन करने में अधिक रुचि दिखाई है। हम यह भी कह सकते हैं कि उनके पास आलोचना की बहुत पैनी दृष्टि और मौलिक सूझ भले ही न थी, फिर भी उन्होंने प्रगतिवादी जीवन–मूल्यों के आधार पर हिन्दी के बहुत से प्राचीन और आधुनिक कवियों का अपनी सौम्य लेखनी से मूल्यांकन किया है।

गुप्तजी ने अपनी समीक्षा में परंपरा को अस्वीकार नहीं किया है। कला, साहित्य अथवा संस्कृति की अविच्छिन्न परंपरा को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार परंपरा इतिहास के लम्बे तार के समान होती है। वे मानते हैं कि हिन्दी साहित्य की परंपरा मूलतः एक जनवादी परंपरा रही है। हिन्दी के साहित्यकारों ने पूर्वकाल से ही भारतीय जनता की भावनाओं को अपने साहित्य में व्यक्त किया है।

मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन वस्तुतः हमारे सामने जीवन की बहुमुखी समस्याओं के प्रति सचेत प्रतिक्रिया के रूप में उभरकर आता है। उन समस्याओं के प्रति तत्कालीन भक्त कवियों के सक्रिय योगदान को लक्ष्य करके गुप्तजी लिखते हैं – 'उस युग के संघर्ष में भक्त कवि जनता के प्रतिनिधि थे। खुले रूप से यह संघर्ष उस काल की शासन–व्यवस्था के विरुद्ध न था, किन्तु उन सभी सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं पर – जो उस व्यवस्था के मूल में आधारित थीं – यह संत–साहित्य एक मर्म प्रहार अवश्य था।'

इसी प्रकार गुप्तजी रीतिकाल के कवियों की ह्रासवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि उनकी दृष्टि मूलतः अस्वस्थ है। वे ऐसे समाज का प्रतिबिंब हैं, जिसमें प्रगति की संभावनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। इसी क्रम में उन्होंने भारतेन्दु युग के साहित्य को 'युग–सन्धि का साहित्य' कहा है। उनके अनुसार इस युग के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह सामंतों के लिए नहीं रचा गया था। उस युग के लेखक उस पाठक वर्ग के लिए लिख रहे थे, जिससे वे स्वयं उत्पन्न हुए थे।

भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युग आधुनिक परंपरा के परिमार्जन का युग था। इस युग के कवि प्राचीन आख्यानों से प्रेरणा प्राप्त करके आधुनिक समस्याओं का निदर्शन करने में लगे थे। इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके गुप्तजी लिखते हैं – 'हिन्दी के आधुनिक साहित्य में पौराणिक पुनरावृत्ति केवल एक धारा है। अधिकांश लेखक आधुनिक समस्याओं की ओर मुड़ते हैं, वह 'भारत–भारती' आदि में स्पष्ट है।' इसी प्रकार उन्होंने हिन्दी कथा–साहित्य के प्रतिनिधि रचनाकार प्रेमचन्द के विषय में लिखा है कि प्रेमचन्द प्रत्येक अर्थ में जनता के कलाकार थे। ग्राम–जीवन के संपूर्ण शोषण की क्रूर–कथा उनके यहाँ मिलती है। जमींदार के आतंक, महाजन और पंडों के शोषण, कारिदों और पुलिस का अत्याचार, ग्राम–जीवन का भयानक दैन्य और गरीबी – सभी के चित्र इस साहित्य में अंकित है।' प्रसाद के नाट्य–साहित्य पर टिप्पणी करते हुए गुप्तजी लिखते हैं कि उनकी रचनाओं में देश का इतिहास सजीव होकर हमारे नेत्रों के सामने घूम जाता है; किन्तु अधिकतर वे वर्तमान जीवन की विषमता और कुरूपता को भूलकर अतीत के स्वप्न देखने में निमग्न थे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के चतुर्थ उत्थान को गुप्तजी ने 'नयी पौध' की संज्ञा दी है। गुप्तजी के मत से यह 'नयी पौध' अधिक अहंवादी, अंतर्मुखी तथा नियतिवादी थी। इसी क्रम में प्रगतिवादी चेतना का उल्लेख करते हुए गुप्तजी ने लिखा है कि यह नवीन साहित्यिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, कलाकार के सामाजिक दायित्व के प्रति आग्रह दिखाती है और एक नवीन शोषण रहित संस्कृति में आस्था रखती है। निःसंदेह इस नयी साहित्यिक प्रवृत्ति ने लेखकों को उनके एकाकीपन और अहंवाद से मुक्त किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गुप्तजी ने पूरे हिन्दी साहित्य को उसकी परंपरा के दायरे में परखने का प्रयास किया है। इस कार्य में उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः सकारात्मक दिखाई पड़ता है।

डॉ. रांगेय राघव :

डॉ. रांगेय राघव के विषय में डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने 'हिन्दी का गद्य साहित्य' में लिखा है कि उन्होंने प्रगतिशील समीक्षा के आरंभिक दौर में अपनी व्यापक मानवीय दृष्टि का परिचय देते हुए समीक्षा को कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टि से मुक्त रखा था। सचमुच डॉ. राघव साहित्य को समाज–व्यवस्था का प्रतिबिंब मानने वाले रचनाकार और समीक्षक थे। वे अपनी 13 वर्ष की अल्पायु में इतना कुछ कर गए, जितना कोई लम्बा जीवन जीने पर भी सामान्यतः नहीं कर पाता। वे दूसरे बहुत–से मार्क्सवादियों की तरह साहित्य को मात्र आर्थिक आधारों पर परखने के पक्षधर नहीं थे। उनका मानना था कि साहित्यकार को सिर्फ आर्थिक परिस्थितियाँ ही नहीं, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक परिस्थितियाँ भी बड़े गहरे रूप में प्रभावित करती

हैं। उनके अनुसार किसी भी रचनाकार की प्रतिभा अपने आप में व्यक्तिगत होते हुए भी अंततः समाज सापेक्ष होती है। किसी भी व्यक्ति की गुण ग्राहकता उसके सामाजिक जीवन की देन होती है। वह जिस तरह के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक वातावरण में रहता है, उसी तरह के विचार, भावनाएँ और कार्य–कुशलता उसके भीतर उत्पन्न होती है। यही कारण है कि कोई व्यक्ति कितना भी महान हो, परंतु वह संपूर्ण रूप से युग–निरपेक्ष नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इसी सत्य को लक्ष्य करके डॉ. राघव लिखते हैं कि जब प्रतिभा व्यक्तिपरकता में इतना डूब जाती है कि उसका समाज से विच्छेद हो जाता है, तब उसका स्रोत सूख जाता है और उसका विस्तार रुक जाता है।

डॉ. राघव ने भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भाव और रस की संबद्धता का समर्थन किया है। उनके अनुसार भाव–प्रवण साहित्य ही रसोद्रेक में समर्थ हो सकता है। लेकिन वही भाव जिसका साधारणीकरण के साथ तादात्म्य हो, और जो भाव–क्षेत्र को उदात्त बना सके। उन्होंने भावात्मक तादात्म्य को भी साधाराणीकरण की संज्ञा दी है। उनके मत से अपने विचार के भावात्मक रूप के साथ जब लेखक पाठक के भावात्मक विचार को मिला देता है, तब एक तादात्म्य का जन्म होता है। उन्होंने व्यक्ति–वैचित्र्यवाद तथा चमत्कारवाद का निषेध किया है। उनके अनुसार रागात्मकता की सार्थकता उसकी विस्मयमूलकता में नहीं है, बल्कि उसके समाज सापेक्ष और संप्रेषणीय होने में है।

साहित्य के प्रयोजन के संदर्भ में डॉ. रांगेय राघव का मत है कि साहित्य सुंदर ढंग से, सहज तरीके से, भाषा के माध्यम से व्यक्ति में उदात्त भावों को विचारों के माध्यम से जगाता है और उसे व्यक्ति–वैचित्र्य की खाइयों में गिरने से बचाता है।

जहाँ तक व्यावहारिक समीक्षा का सम्बन्ध है, डॉ. रांगेय राघव मुख्यतः आधुनिक हिन्दी कविता के विभिन्न पक्षों से ही संबद्ध रहे हैं। मध्यकालीन कवियों अथवा काव्य प्रवृत्तियों का उनका विवेचन आनुषंगिक ही कहा जा सकता है। वे कबीर, तुलसी आदि मध्यकालीन कवियों में प्रगतिशीलता के तत्व ढूँढने वाले कुछ प्रगतिशील समीक्षकों के विरोधी रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा की कड़ी आलोचना भी की है। वे हर किसी रचनाकार को मार्क्सवादी मानने के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए उन्होंने पंत को मानवतावादी कवि और निराला को वेदान्तवादी कवि कहा है। उनके अनुसार भले ही निराला की सहानुभूति दलित वर्ग के साथ रही हो, फिर भी हम उन्हें मार्क्सवादी कवि नहीं कह सकते। महादेवी वर्मा के गीतों में चित्रित समाज को उन्होंने गौण माना है, फिर भी उनके गीतों को उन्होंने इस आधार पर महत्व दिया है कि उनमें स्त्री के प्रेम को स्वर दिया गया है।

व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध उनकी कृति 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' में काव्य के रागात्मक पक्ष को उभारा गया है। पुरुष और स्त्री के सौंदर्यमूलक आकर्षण से लेकर भोर से साँझ और फागुन से पावस तक के उद्दीपक तत्वों के विश्लेषण द्वारा प्रेम और शृंगार की गहन व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश इस कृति में की गई है। यही इस कृति की उपलब्धि है। डॉ. राघव की एक बड़ी विशेषता यह मानी जा सकती है कि उन्होंने हिन्दी काव्य को वर्ग और बाद विशेष के घेरे से मुक्त रखकर उसे परखने का प्रयत्न किया है। ऐसा करते समय उनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण बहुत पीछे छूट जाता है। वास्तव में इस समस्त विवेचन के केन्द्र में काव्य के विषय तथा उसके रूपपक्ष को ही रखा गया है। ऐसे स्थलों पर उसके सामाजिक पक्ष का पर्याप्त मूल्यांकन नहीं हो सका है।

अमृतराय :

अमृतराय मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्तों के एक अच्छे व्याख्याकार के रूप में जाने जाते हैं। शिवदानसिंह चौहान के बाद वे 'हंस' के संपादक रहे। उस दौरान उन्होंने बहुत–सी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखीं। उन टिप्पणियों और अन्य आलोचनात्मक लेखों का संग्रह 'नयी समीक्षा' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना के मूलभूत आदर्शों का विशद् विवेचन किया है। मार्क्सवाद की यह दृढ़ मान्यता है कि मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक जीवन पर आश्रित होती है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ ही साहित्यकार की चेतना का निर्माण करती हैं। एक तरफ समाज साहित्यकार पर प्रभाव डालता है, तो दूसरी तरफ साहित्यकार समाज को प्रभावित करता है। अमृतराय के विचार में यह स्थापना मार्क्सवादी आलोचना का बीज है।

मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार उत्पादन के साधन मानव समाज के विकास के प्रारंभिक आधार हैं। उत्पादन के साधनों के विकास के साथ–साथ मानवजीवन में सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता चलता है; और उसका प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ता है। इस मान्यता को लक्ष्य करके अमृतराय लिखते हैं – 'मानव मस्तिष्क की अन्य सभी उपजों के समान साहित्य भी अंततः समाज के आर्थिक सम्बन्धों, उत्पादन के सम्बन्धों से निर्दिष्ट होता है।'

अमृतराय मूलतः कथाकार हैं। प्रगतिशील आन्दोलन से सक्रिय रूप से जुड़े होने के कारण उन्होंने समय–समय पर आलोचनात्मक लेख लिखे। कुछ विद्वानों का यह मानना है कि अमृतराय को मार्क्सवाद का बहुत ही स्थूल अध्ययन है, जिसके कारण वे साहित्य के कलापक्ष का मूल्यांकन करने में अक्षम है। 'नयी समीक्षा' में कोई ऐसा लेख नहीं है, जिसमें उन्होंने

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन किया हो। हाँ, यह जरूर है कि महादेवी, अश्क, बेनीपुरी, भगवतीचरण वर्मा जैसे रचनाकारों के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियाँ की हैं। महादेवी के काव्य को वे आत्मकेन्द्रित तथा आत्मलीन मानते हैं। जबकि उनके पद्य साहित्य को समाज केन्द्रित तथा जनता की पीड़ा को स्वर देने वाला मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक जीवन के कु–संस्कारों का उच्छेदन ही लेखिका का लक्ष्य रहा है। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े–मेढ़े रास्ते' पर सीधा प्रहार करते हुए वे कहते हैं कि लेखक ने उपन्यास के चरित्रों को सर्वांगपूर्ण बनाने के चक्कर में कहीं–कहीं अस्वाभाविक और आधारहीन प्रसंगों की उद्‌भावना की है। इस तोड़–मरोड़ ने उपन्यास को चौपट कर दिया है। ऐसी ही दो–टूक बात अश्क की 'गिरती दीवारें' के विषय में कही हैं। 'गिरती दीवारें' में एक ऐसी ताजगी, एक ऐसी सच्चाई, एक ऐसा खरापन है, जो कम देखने को मिलता है। ..... इसमें जीवन और समाज के मसले पर लम्बी–लम्बी तकरीरें नहीं हैं। ....उसकी प्रवाहमयी, मुहावरेदार, साफ–सुथरी भाषा है, जिसमें भावों का रंग बखूबी उतार देने की क्षमता है।'

डॉ. नामवर सिंह :

डॉ. नामवर सिंह वर्तमान युग के एक प्रतिनिधि समीक्षक हैं। डॉ. नामवर सिंह मूलतः प्रगतिशील आलोचना के पक्षधर हैं। उनको डॉ. रामविलास शर्मा के बाद सबसे अधिक सशक्त और सक्रिय मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में जाना जाता है।

उनकी एक बहुत बड़ी शक्ति यह है कि उन्होंने प्राचीन तथा नवीन और भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यों का गहरा अध्ययन किया है। उनके आलोचक जीवन का आरंभ 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक पुस्तक से हुआ। इस ग्रंथ में अपभ्रंश साहित्य पर विचार करते हुए उन्होंने बीच–बीच में जो टिप्पणियाँ दी हैं उनसे उनकी सूक्ष्मदर्शिता और सहृदयता का पता चलाता है। वैसे तो यह ग्रंथ ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर तैयार किया गया एक शोध ग्रंथ है, किन्तु इस ग्रंथ में ही डॉ. नामवर सिंह की मार्क्सवादी दृष्टि यत्र–तत्र देखने को मिलती है। आचार्य शुक्ल जी ने आदिकाल को वीरगाथा काल कहा है, किन्तु डॉ. नामवर सिंह ने उस प्रवृत्ति को क्षीयमाण मनोवृत्ति का प्रतिबिंब कहा है। वे साहित्य चेतना को व्यापक जन–जीवन से सम्बद्ध देखने के पक्षपाती हैं, और इसी दृष्टि से उन्होंने प्राचीन एवं आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन किया है। 'छायावाद' 'इतिहास और आलोचना' 'आधुनिक साहित्य की (1968 ई०) वृत्तियाँ' (1982 ई.) 'कहानी नयी कहानी' (1933 ई.) 'कविता के नये प्रतिमान' 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982 ई.) 'वाद–विवाद संवाद' उनकी प्रख्यात समीक्षा कृतियाँ हैं।

डॉ. नामवर सिंह मूलतः मार्क्सवादी समीक्षक हैं। इसीलिए वे कला और साहित्य को समाज से जोड़कर देखते हैं। उनकी दृष्टि में प्रगतिवादी साहित्य शोषित जनता के लिए, देश के लिए, यथार्थ परिस्थितियों के लिए, अंतर्राष्ट्रीयता के लिए, आर्थिक और सामाजिक जागरूकता के लिए, भाषा और भावों के समन्वय के लिए, प्रेषणीयता के लिए, व्यंग्यपूर्ण भाषा के लिए, लोकतत्व एवं जनवाद के लिए एवं व्यक्तिवाद के विरोध के लिए होता है। अथवा इन बातों पर विशेष बल देता है। उनकी मान्यता है कि साहित्य को शक्ति जनता से प्राप्त होती है तथा प्रगतिशील साहित्य जन–प्रेरक होता है। जनता के साथ साहित्य का सम्बन्ध जितना घनिष्ठ होता है, साहित्य उतना ही सुन्दर होता है। अर्थात् साहित्य में सौंदर्य का स्रोत जनवादी दृष्टि में समाहित होता है। डॉ. नामवर सिंह साहित्य में यथार्थवादी दृष्टि के पक्षधर एवं भावुकता के विरोधी हैं। उनके मत से कोई भी साहित्यिक कृति यथार्थवादी धरातल के बिना महान और सुंदर नहीं हो सकती। सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण साहित्य को शाश्वत बनाता है। वे लिखते हैं कि – सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। अपने समय से अलग रहकर अथवा भागकर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता। अपनी इसी धारणा के चलते वे अतिव्यक्तिवादी, समाज–विरोधी प्रवृत्तियों वाले तथा कोरे अभिव्यक्ति–कौशल पर अधिकाधिक बल देने वाले प्रयोगवादी साहित्य का विरोध करते हैं। वे प्रयोगवाद को रूपवादी काव्य–प्रवृत्ति मानते हैं और कहते हैं कि प्रयोगवादी के पास यथेष्ट कौशल तो है, पर कथ्य कुछ भी नहीं। वास्तव में वे वस्तुपक्ष और शिल्पपक्ष दोनों के समन्वय पर बल देने वाले समीक्षक हैं। जहाँ एक ओर वे नित–नूतन प्रयोगों की खोज करने वाले प्रयोगवादियों की टीका करते हैं, वहीं कोरे सिद्धान्त–प्रचारक साहित्य एवं साहित्यकारों की भर्त्सना करते हैं।

डॉ. नामवर सिंह हिन्दी के उन आलोचकों में से हैं, जो पाश्चात्य साहित्य आन्दोलनों का हिन्दी साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में अप्रसांगिक प्रयोग अनुचित मानते हैं; फिर भी वे पश्चिमी साहित्यशास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र के प्रमुख विचारकों प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस के साथ–साथ कान्ट, हिगेल, क्रोचे, क्लाइवबेल आदि का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। अपनी पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' में नामवर इलियट की परंपरा सम्बन्धी अवधारणा से काफी प्रभावित लगते हैं। परंपरा के महत्व को स्वीकार करते हुए इलियट ने लिखा है कि किसी भी साहित्यकार अथवा साहित्यिक कृति का परंपरा से निरपेक्ष मूल्यांकन न तो पूर्ण ही होगा और न महत्त्वपूर्ण ही। इलियट के अनुसार परंपरा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'इतिहास बोध' है।

डॉ. नामवर सिंह ने रचना के वस्तुपक्ष की व्यापकता और गहराई के प्रश्न पर भी गहराई से विचार किया है। वे प्रश्न करते हैं कि–'देखना यह है कि किसी लेखक में व्यापकता के होते

हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं, तो वस्तुतः वह गहराई की कमी व्यापकता की कमी तो नहीं है?' डॉ. सिंह व्यापकता और गहराई का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं; अर्थात् किसी रचना में यदि व्यापकता है, तो उसमें गहराई भी होगी ही; और यदि उसमें गहराई लक्षित होती है, तो उसमें व्यापकता का होना भी अनिवार्य है।

साहित्य समीक्षा में एक और मुद्दा हमेशा चर्चा का विषय रहा है; वह है रचनाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व। इस पर डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं कि समाज के इतिहास के बीच प्रत्येक व्यक्ति का अपना भी एक इतिहास है : परंतु लेखक की विशिष्टता उसकी व्यक्तिगत इकाई के अतिरिक्त अधिकांशतः उसके सम्बन्धों और सम्बन्धों की समझदारी पर निर्भर है। लेखक के व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर तैयार होता है। इसीलिए समाज के साथ लेखक के जो सम्बन्ध होते हैं, वे सामाजिक परिवर्तनों के साथ परिवर्तित और विकसित भी होते रहते हैं। अर्थात् लेखकीय व्यक्तित्व को अपने आप में पूर्ण मान लेने से वह जड़ बन जाता है और उसके विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। साहित्य–रचना में लेखक के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है; क्योंकि वह साहित्य में समाज को अभिव्यक्ति देता है। संकीर्ण दृष्टिकोण वाले लेखक द्वारा साहित्य में वर्णित समाज का चित्र संकीर्ण होता है; जबकि व्यापक दृष्टिकोण वाले समझदार लेखक द्वारा प्रस्तुत चित्र अधिक से अधिक वास्तविकता के निकट होता है। डॉ. नामवर सिंह अनुभूति के साथ कार्य अर्थात् व्यवहार का अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार, जब हम कार्य करने के लिए अपने आप से बाहर निकलते हैं, तब समाज की सीमा में आ जाते हैं और हमारा कार्य सामाजिक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'एकदम वैयक्तिक' अनुभूति की सत्ता को स्वीकार करना संभव नहीं है।

डॉ. नामवरजी अनुभूति की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि अनुभूति एक रचनात्मक क्रिया है और वह निरंतर बदलती रहती है। वैसे तो अनुभूति का सम्बन्ध जीवन की वास्तविकताओं से हैं और उसमें नवीनता लाने के लिए एक रचनाकार को सदैव उससे संघर्ष करते रहना पड़ता है। इसीलिए अपने जीवन और परिस्थितियों को बदलने के क्रम में हमारी अनुभूतियाँ भी बदलती चलती हैं। उनमें नवीनता आती जाती है।

स्वाधीनता के बाद हिन्दी साहित्य में एक अन्य प्रश्न जो अधिक चर्चा में रहा, वह था, 'आस्था' का प्रश्न। गैर–कम्यूनिस्ट लेखकों ने किसी विचारधारा या व्यवस्था में आस्था रखने के बजाय अपने 'विवेक' में आस्था रखने पर बल दिया। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं कि 'दरअसल आस्था के सिलसिले में जिस 'विवेक' शब्द का बहुत नाम लिया जाता

है, वह स्वयं बहुत गोल है। जिसको हम 'विवेक' कहते हैं, वह क्या कोई सर्वथा अंतर्दृष्टि है? या उसका भी निर्माण अनुभव ज्ञान से होता है? और जिस 'विवेक' को हम अपना कहते हैं, वह भी कितना अपना है और कितना पराया इसका निर्णय कैसे हो? देख–सुन, पढ़–गुनकर हम जो विचार बनाते हैं, उसके बारे में क्या हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि वह नितान्त अपना है? 'व्यक्ति स्वातंर्त्र्य' का जो लोग इतना ढोल पीटते हैं, क्या वे सब विचार की दृष्टि से स्वतंत्र हैं? आशय यह कि वे 'विवेक' या 'पूर्ण व्यक्ति स्वातंर्त्र्य' को एक मिथ्या कल्पना मानते हैं; क्योंकि व्यक्ति अंततः एक सामाजिक प्राणी है। इसीलिए उसके विवेक का निर्माण भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज ही करता है। इसीलिए वे 'आस्था–अनास्था' के प्रश्न को सीधे समाज से जोड़ते हैं। वे यह मानते हैं कि 'आस्था की शक्ति उसके आधार से ही निर्धारित होती है।' उनके अनुसार लेखक के सामने यह प्रश्न होना चाहिए कि वह 'किसके प्रति आस्था रखे' और इसका उत्तर वे 'जनता के प्रति आस्था' कहकर देते हैं। वे आस्था–अनास्था और आशा–निराशा के प्रश्न से ऊपर उठकर तथा यथार्थ ज्ञान की बात करते हैं। यदि कोई साहित्य हमारे यथार्थ ज्ञान को समृद्ध करता हो, तो वह अनास्थावादी और निराशापरक होने पर भी श्रेष्ठ होता है। उनके अनुसार तुलसी और सूर के विनय के पद बावजूद निराशा के आज भी लोगों को शक्ति प्रदान करते हैं।

डॉ. नामवर सिंह मूलतः छायावादोत्तर हिन्दी कविता के आलोचक हैं। फिर भी उन्होंने छायावाद पर 'छायावाद' नाम से एक पुस्तक लिखी है। वास्तव में मार्क्सवाद अतीत की बहुमूल्य विरासत को स्वीकार करके चलने वाली विचारधारा है। हिन्दी आलोचना में जब छायावाद के खिलाफ घृणा का प्रचार करके हमें अपनी प्रगतिशील विरासत से वंचित करने का प्रयास किया जा रहा था, उस समय डॉ. नामवर सिंह ने 'छायावाद' नामक पुस्तक लिखकर हमें छायावाद की विशेषताओं से परिचित कराया और उसके सकारात्मक पक्षों को रेखांकित किया। उन्होंने छायावाद की मूल प्रेरणा व्यक्तिवाद को माना है। व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना छायावादी कविता में कवियों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई। हिन्दी की जो कविता पहले निर्वैयक्तिक और इतिवृत्तात्मक थी, वह देखते–देखते वैयक्तिक और रागात्मक हो उठी। डॉ. नामवर सिंह ने उस आत्माभिव्यक्ति को सामंती सम्बन्धों के विरूद्ध नवोदित मध्यवर्ग की जनवादी चेतना का प्रमाण बतलाया है। यही नहीं छायावाद में प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध के साथ–साथ नयी शिक्षा के परिणामस्वरूप नारी और पुरुष का सम्बन्धा भी बदल गया। इसीलिए साहित्य में पहली बार स्त्री और पुरुष के बीच वैयक्तिक स्वच्छंद प्रेम का अभ्युदय हुआ। उन्होंने छायावाद को सामाजिक विकास–क्रम में परखते हुए उसके सकारात्मक–नकारात्मक तथा प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दोनों ही पक्षों को पहचाना है।

इसीलिए वे छायावाद को मात्र द्विवेदीयुग की प्रतिक्रिया नहीं मानते, बल्कि वे उसे परवर्ती काव्य विकास की प्रगतिशील विरासत के रूप में देखते हैं।' 'छायावाद द्विवेदी युग का ऐतिहासिक विकास है और इस प्रकार छायावाद हिन्दी साहित्य की परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।'

छायावाद के बाद हिन्दी कविता में यथार्थवाद का विकास प्रारंभ होता है। परिणामस्वरूप कविता भावपरक होने के बजाय वस्तुपरक होने लगी। इस संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं– 'छायावादी काव्य–रचना की प्रक्रिया जहाँ भीतर से बाहर की ओर है, वहाँ नयी कविता की रचना–प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है।' 'कविता के नये प्रतिमान' (सन् 1968) में डॉ. नामवर सिंह ने काव्यभाषा, सपाट बयानी, नाटकीय काव्य–संरचना, विसंगति और विडम्बना, अनुभूति की जटिलता और तनाव तथा ईमानदारी को कविता के नये प्रतिमान के रूप में प्रतिपादित किया है। काव्यभाषा, सपाट बयानी और संरचना सम्बन्धी प्रतिमान कविता के 'रूप' से सम्बन्धित है और विसंगति तथा विडम्बना, अनुभूति की जटिलता और ईमानदारी सम्बन्धी प्रतिमान उसकी 'वस्तु' से सम्बन्धित है। यहाँ पर डॉ. नामवर सिंह की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने 'रूपगत' प्रतिमानों तथा 'वस्तुगत' प्रतिमानों का विवेचन एक–दूसरे की सापेक्षता में किया है और विवेचन की दृष्टि पूरी तरह मार्क्सवादी है।

कविता के साथ–साथ डॉ. नामवर सिंह ने हिन्दी कहानी – खासकर 'नयी कहानी'– पर भी आलोचनात्मक ढंग से विचार किया है। नयी कहानी से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दों पर लिखे गए उनके लेखों और टिप्पणियों का एक संकलन सन् 1966 में 'कहानी : नयी कहानी' के रूप में प्रकाशित हुआ। उन्होंने नयी कहानी की वस्तु और रूप सम्बन्धी विशेषताओं का निर्देश करने के साथ–साथ उसकी सीमाओं की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार नयी कहानी में पैनी सामाजिक दृष्टि की बहुत कमी है।

उनकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे साहित्य में होने वाले हर एक सामयिक गतिविधि को बड़ी पैनी नजर से देखते थे। मूलतः तो वे मार्क्सवादी समीक्षक थे, किन्तु परंपरा या पूर्ववर्ती साहित्य– दृष्टि के अंधविरोधी नहीं थे।

विद्यार्थियो! इन प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षकों के साथ–साथ कुछ अन्य मार्क्सवादी समीक्षक हैं–डॉ. शिवकुमार मिश्र, चंद्रबली सिंह, रमेशकुंतल मेघ, विशंवरनाथ उपाध्याय, बच्चन सिंह और मैनेजर पांडेय इत्यादि।

14.7 मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध

गजानन माधव मुक्तिबोध :

मुक्तिबोध मूलतः सर्जक हैं। अपनी सर्जन–यात्रा के दौरान उन्होंने जो चिंतन–मनन किया, उनकी आलोचना उसी की देन है। अपने समाज के आलोचकों से मुक्तिबोध को गहरा संतोष था कारण कि उस समय के अधिकांश कवि–आलोचक अपने को स्थापित करने में लगे हुए थे। वे या तो पूर्वाग्रह से ग्रस्त अथवा बेहद कट्टर सिद्धांतवादी नजरिये से साहित्य को जाँच परख रहे थे; अथवा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों को आँख मूँदकर हिन्दी आलोचना में उतार रहे थे। नये आलोचकों के प्रति मुक्तिबोध का असंतोष इस अर्थ में भी था कि उनका मानव–मुक्ति के प्रश्न से और जीवन–जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाली क्रान्तिकारी दार्शनिक चिंतधारा से कोई मतलब न था।

ऐसी स्थिति में मुक्तिबोध ने युग–धर्म के रूप में आलोचना कर्म को अपनाया। इसीलिए उनकी आलोचनात्मक कृतियों में न केवल अपने सांस्कृतिक दायित्व के प्रति सजगता दिखाई पड़ती है, बल्कि उनके सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन और समीक्षा–दृष्टि में गहरी समझदारी और मूल्य–विवेक के भी दर्शन होते हैं। कला–मर्मज्ञ होने के नाते उन्होंने मार्क्सवादी सौंदर्यशासीय दृष्टि से सृजन–प्रक्रिया के रहस्य का गहन विश्लेषण कर उसे यथार्थ का ठोस आधार प्रदान किया है। सृजन–प्रक्रिया के संदर्भ में ही उन्होंने फैन्टेसी तत्व की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए काव्य के गीतात्मक दायरे को तोड़कर उसमें प्रबंध, रूपक, फैन्टेसी, नाटक आदि के तत्वों के समन्वित इस्तेमाल द्वारा लम्बी नाटकीय कविता का नया प्रयोग किया। उन्होंने कला में जीवनपरक समाजशासीय मूल्यों पर बल देते हुए उसे मनोवैज्ञानिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों से परिपुष्ट किया है।

मुक्तिबोध की दृष्टि से साहित्य की कसौटी जीवन है और जीवन त्रिकोणात्मक है, जिसकी एक भुजा बाह्य–जगत् है, दूसरी भुजा अंतर्जगत् है और आधार रेखा के रूप में तीसरी भुजा हमारी चेतना है। अंतर्जगत् का निर्माण और विकास बाह्य–जगत् के तत्त्वों पर निर्भर है। इसी मान्यता के आधार पर मुक्तिबोध काव्य को आभ्यंतर जीवन जगत् का ही बाह्यीकृत रूप मानते हैं – 'हमारी भाव–संपदा, ज्ञान–संपदा, अनुभव–समृद्धि उस अंतः तत्त्व की व्यवस्था का ही अभिन्न अंग है, जिसे अपने बाह्य जीवन–जगत् को आभ्यंतीकरण से प्राप्त की है।'

मुक्तिबोध साहित्य और समाज के सम्बन्ध को अभिन्न मानते हैं; और इस अभिन्नता के परिप्रेक्ष्य में ही साहित्य और कला को देखने का आग्रह रखते हैं। वे सामाजिक दृष्टि को

सौंदर्य प्रतीति से विच्छिन्न करके नहीं देखते–'कवि, कहानी लेखक, उपन्यासकार की सौंदर्य प्रतीति में वह सामाजिक दृष्टि सन्निहित है, जिसका उसने उन जीवन–प्रसंगों के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था।' मुक्तिबोध के अनुसार काव्य भले ही रचनाकार के व्यक्तिगत प्रयास का परिणाम होता है, परंतु वह अंततः एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया की देन है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी नहीं, समाज एवं वर्ग की देन हैं। मुक्तिबोध की यह धारणा उस व्यक्तिवादी चिंतनधारा के विपरीत जाती है, जो यह मानती है कि कलाकार विशिष्ट सत्य और द्वितीय भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। मुक्तिबोध की यह मान्यता निश्चित ही ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का परिणाम है। उनका स्पष्ट मत है कि लेखक के जीवनानुभव समाज विकास की ऐतिहासिक–सामाजिक शक्तियों द्वारा उसके हृदय में अभिव्यक्त होते हैं। उनके इसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि वे परंपरा के किसी भी जीवनोपयोगी तत्त्व को महत्त्व देते हैं। परंपरा का तिरस्कार या अस्वीकार उनके चिंतन के दायरे में नहीं आता। वे लिखते हैं कि 'भवभूति, कालिदास, कबीर, तुलसी, सूर, घनानंद आदि के काव्य में हमें जहाँ–जहाँ मनोहर सूक्ष्म दृष्टियाँ, जीवन पक्षों का मार्मिक उद्‌घाटन तथा जीवन–विवेक दृष्टिगोचर होता है। यह सब साहित्य हमारी स्थायी संपत्ति है।'

मुक्तिबोध ने साहित्य की मूल्यवत्ता के प्रश्न पर भी विचार किया है। उनके अनुसार किसी काव्य का मनोरंजक होना एक बात है और जीवन–मूल्य के रूप में हमारे सामने आना दूसरी बात है। वे कहते हैं कि हमारे लिए मूल्यवान कला वह है, जिसमें मार्मिक जीवन–विवेक, जीवन–दृष्टियों तथा जीवन के वास्तविक पक्षों का उद्‌घाटन हो। .....वह काव्य या कला जो हमें भावोत्तेजित तो करती है, किन्तु हमारे वास्तविक जीवन–पथ में मूल्यवान होकर सहायक नहीं बनती, निश्चय ही वह कला श्रेष्ठ होते हुए भी श्रेष्ठतम नहीं है।

मुक्तिबोध ने विचारधारा की प्रतिबद्धता का भी सवाल उठाया है। उनके अनुसार 'कलाकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह बँधे–बँधाए वैचारिक ढाँचे को यांत्रिक रूप से स्वीकार करे; फिर भी, ऐसे लेखक–कलाकार होते आए हैं, जिन्होंने वैयक्तिक सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में एक कलाकार की हैसियत से सोचा–विचारा है।' इसका आशय यह नहीं कि मुक्तिबोध विचारधारा को अस्वीकार करते हैं; बल्कि वे लेखक में विचारधारा का अभाव उसकी रचनाशीलता के लिए घातक मानते हैं। मुक्तिबोध कलाकार के लिए एक ऐसी विश्व–दृष्टि को अनिवार्य मानते हैं, जो उसकी पीड़ा भरी जड़ता को दूर कर भविष्य–निर्माण की प्रक्रिया से जोड़ सके।

मुक्तिबोध ने अपने समीक्षा ग्रंथों में साहित्य समीक्षा से सम्बन्धित तमाम सैद्धान्तिक मुद्दों को नये ढँग से उभारा है, नये–नये प्रश्न उपस्थित किये हैं और उनके उत्तर खोजने का प्रयास किया है। उनके चिंतन का फलक अत्यंत व्यापक प्रतीत होता है। वे समसामायिक प्रश्नों से भी टकराते हैं। सुदूर अतीत तक भी पहुँचते हैं और वैश्विक दृष्टि का भी आकलन करते हैं। उन्होंने साहित्य–समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष की चर्चा में जितनी तत्परता दिखाई है, उतनी ही तेजस्विता एवं प्रखरता उनकी व्यावहारिक समीक्षा में भी दिखाई पड़ती है। अपनी काव्यगत मान्यताओं के आधार पर उन्होंने कलाकार के बाह्य एवं आभ्यंतर जीवन की परीक्षा करते हुए अनेक कृतियों का मूल्यांकन किया है। उन्होंने प्रसाद की 'कामायनी' का मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण करके उसका समाजशास्त्रीय मूल्यांकन किया है। 'कामायनी' के सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष है कि प्रसाद ने युग की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हलचलों को वैयक्तिक धरातल पर विश्व भूमिका में रखकर फैन्टेसी के माध्यम से प्रतिफलित किया है। उन्होंने 'कामायनी' के रहस्यवादी जीवन–दर्शन की तीखी आलोचना की है। 'कामायनी' का जो विवेचन मुक्तिबोध ने किया है, वह एक ओर प्रसाद के युग को तथा दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व की क्रिया–प्रतिक्रियाओं के योग को ध्यान में रखकर किया है। इसी प्रकार 'कामायनी' में व्यक्त प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील तत्वों को उन्होंने अलग–अलग दर्शाया है। साथ ही उसके अंतर्विरोधों को भी उन्होंने लक्ष्य किया है – 'कामायनी अपने युग का अवैज्ञानिक, अपरिष्कृत प्रतिबिंब है। यदि वह सुपरिष्कृत प्रतिबिंब होता, तो तत्कालीन समस्याओं का यथार्थ हल भी प्रस्तुत किया जाता।' तमाम असहमतियों और टीकाओं के बावजूद मुक्तिबोध 'कामायनी' को एक मूल्यवान ग्रंथ मानते हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'उर्वशी' की मूलभूत कमजोरियों को पकड़ने की कोशिश मुक्तिबोध ने की है। 'उर्वशी' की उनकी समीक्षा भगवतीशरण उपाध्याय द्वारा की गई 'उर्वशी' की आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में है। श्री उपाध्याय ने 'उर्वशी' का मूल्यांकन मुख्यतः ऐतिहासिक ग्रंथ की दृष्टि से करने की कोशिश की है जबकि मुक्तिबोध 'उर्वशी' के कथानक की ऐतिहासिकता को मात्र एक भ्रम मानते हैं। उनका मानना है कि 'उर्वशी' ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है बल्कि 'कामायनी' की तरह एक स्वप्न–कथा है। उन्होंने 'उर्वशी' के मूल दर्शन पर ही चोट की है। 'उर्वशी' का मूल प्रतिपाद्य यह है कि इन्द्रिय–सौंदर्य के माध्यम से अतीन्द्रिय सौंदर्य तक पहुँचा जा सकता है। परंतु मुक्तिबोध कहते हैं कि 'उर्वशी' कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है। उन्हें 'उर्वशी' की काव्यभाषा पर भी आपत्ति है। इस काव्य की भाषा की विचित्रता और बोझिलता का कारण बताते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि दिनकर कामात्म मनोरति और संवेदनाओं में डूबना–उतराना चाहते हैं। साथ ही इस गति–विधि को सांस्कृतिक–आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व

प्रदान कर उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं। इसीलिए भाषा में बोझिल गुण है। विचित्र–विचित्र प्रयोग हैं। शब्दों की तोड़–मरोड़ है, ठूँस–ठाँस है।

मुक्तिबोध ने पंत और प्रसाद के कवि–स्वभाव पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उनका कहना है कि पंत की दृष्टि वास्तवोन्मुख अधिक रही है, प्रसाद की अंतर्मुख अधिका उनके अनुसार प्रसाद की दुरूहता और उलझाव का कारण उनकी अंतर्मुखता ही है। फिर भी उनमें भावों का सूक्ष्म–विश्लेषण अधिक पाया जाता है; जबकि पंत में उसका अभाव है।

छायावाद और नयी कविता, नयी कविता की प्रकृति, प्रयोगवाद, आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ आदि निबंधों में मुक्तिबोध ने नयी कविता के रूप–विधान, कथ्य, भावबोध और प्रकृति को स्पष्ट किया है। वे नयी कविता को कोई प्रयोग नहीं मानते बल्कि उसे एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं। प्रयोगवाद की तीव्र आलोचना करते हुए वे लिखते हैं – 'सतत अन्वेषण और सतत अनुसंधान का बाजा बजाने वाले लोग वस्तुतः प्रयोग नहीं कर रहे हैं, वे प्रयोगवादी नहीं है, वे घेरे में फँसे हुए लोग हैं।'

मुक्तिबोध ने अपने काव्य–चिंतन को आधुनिक या समकालीन काव्य तक ही सीमित नहीं रखा है। उनकी दृष्टि में कबीर, तुलसी एवं कालिदास के काव्य भी हमारे लिए मूल्यवान है। कालिदास की लोकप्रियता का कारण बताते हुए वे कहते हैं कि कालिदास का काव्य हमारे लिए आज आधुनिक अर्थों में प्रेरणाप्रद भले न हो; किन्तु हमारा रंजन करने की शक्ति तो उसमें इसीलिए है कि बावजूद सामंती समाज के क्रिया–कलापों के चित्रण के मनुष्य–प्रेम तथा प्रकृति–प्रेम की उसमें जो तस्वीरें मिलती हैं, उनकी पूर्वपीठिका में हमारे वर्तमान जीवन को रखने पर यह पता चलता है कि वैसा समाज, बाधाहीन मानव–सुलभ प्रेम तथा प्रकृति–सौंदर्य आज हमारे जीवन में नहीं रहा है। हमारे इस अभाव से ही कालिदास के प्रति हमारी अनुरक्ति बढ़ जाती है।

कुल मिलाकर हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में मुक्तिबोध का एक विशिष्ट स्थान है। मार्क्सवादी दृष्टि के प्रति उनकी आस्था, व्यक्तिवादी अंतर्मुख कला सिद्धान्तों का विरोध, आधुनिकतावादी पश्चिमी भावधारा एवं कला–सिद्धांतों का खंडन, साहित्य में वर्ग–चेतना का महत्त्व आदि बातें मुक्तिबोध को जनवादी परंपरा में स्थान दिलाती हैं।

14.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी व्यापक स्तर पर हुआ और अनेक मार्क्सवादी सिद्धांत को अपनाते हुए

हिंदी साहित्य के समीक्षकों ने इस आधार पर समीक्षा की। इस लम्बी परंपरा में मुक्तिबोध का स्थान प्रमुख है क्योंकि उन्होंने एकांगी आलोचनात्मक दृष्टिकोण को न अपनाकर व्यापक रूप से इसे समझा और न केवल मार्क्सवादी आलोचना का विकास किया अपितु इसके साथ–साथ उन्हें अन्य पद्धतियों में जहाँ–जहाँ मानव केंद्रित व्यापक सिद्धांत दिखे उसे उन्होंने अपनाया भी और उसका विस्तार भी किया। मुक्तिबोध ने साहित्य चिंतन के व्यक्तिवादी संकुचित दायरों को तोड़कर स्वच्छंद रूप से अपनी साहित्यिक विचारधारा को समृद्ध करने में अपना योगदान दिया है।

14.9 कठिन शब्द

1. समीक्षात्मक 2. मार्क्सवाद 3. प्रगतिशील 4. द्वन्द्वात्मक 5. भौतिकवाद 6. साम्यवाद 7. सृष्टियाँ 8. अभिव्यक्ति 9. स्वच्छंदतावादी 10. सैद्धांतिक

14.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गजानन माधव मुक्तिबोध मार्क्सवादी आलोचकों में प्रमुख स्थान रखते हैं? सिद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. मार्क्सवादी सिद्धांत को समझाइए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. मार्क्सवाद और हिंदी साहित्य पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. हिंदी साहित्य के प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षकों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नया साहित्य नये प्रश्न, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, विद्यामंदिर, वाराणसी
2. आलोचना की बीसवीं सदी, डॉ. निर्मला जैन, राधा–कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
3. प्रगतिशाली आंदोलन का इतिहास, डॉ. कर्णसिंह चौहान, प्रकाशन संस्थान
4. नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ, गिरिजाकुमार माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
5. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, इतिहास तथा सिद्धांत, डॉ. शिवकुमार मिश्र, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी

———————

मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्त

रूपरेखा

15.1 उद्देश्य

15.2 प्रस्तावना

15.3 मुक्तिबोध : जीवन और कृतित्व

15.41 मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्त

15.4.1 आलोचक मुक्तिबोध / मुक्तिबोध का आलोचक रूप

15.4.2 आलोचक के प्रतिमान

15.4.3 आलोचना के सिद्धांत

15.6 सारांश

15.7 कठिन शब्द

15.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

15.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरांत आप

- गजानन माधव मुक्तिबोध के जीवन और कृतित्व को जान सकेंगे।
- मुक्तिबोध के आलोचक रूप के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- आलोचक के प्रतिमान जान सकेंगे।
- मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्तों से अवगत हो सकेंगे।

15.2 प्रस्तावना

गजानन माधव मुक्तिबोध (1917–1964) मूल रूप से कवि हैं। आधुनिक काल में मार्क्सवादी आलोचक के रूप में उनकी पहचान प्रमुख रूप से स्थापित हुई। मूलतः रचनाकार होते हुए भी आलोचक के रूप में उनकी ख्याति और उनके आलोचना सिद्धान्त हिंदी आलोचना को नई दृष्टि देने के साथ–साथ नई ऊँचाई पर ले जाते हैं।

15.3 मुक्तिबोध–जीवन और साहित्यिक परिचय

15.3.1 मुक्तिबोध जीवन परिचय

मुक्तिबोध का जन्म 13 नवंबर 1917 को शिवपुरी जिला मुरैना, ग्वालियर (मध्य प्रदेश) में हुआ था। पिता का नाम माधवराव और माता का नाम पार्वती बाई था। उनके पिता पुलिस विभाग से सेवानिवृत्त हुए। मुक्तिबोध की आरंभिक शिक्षा उज्जैन में हुई। 1938 में मुक्तिबोध ने बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और उज्जैन के ही मॉडर्न स्कूल में अध्यापक हो गए। वर्ष 1954 में स्नातकोत्तर कर लेने के पश्चात् दिग्विजय कॉलेज (राजनाँद गाँव) में प्राध्यापक पद पर कार्यरत रहे।

मुक्तिबोध का विवाह माता–पिता की इच्छा के विरूद्ध हुआ था। उनकी पत्नी का नाम शांता मुक्तिबोध था। पत्नी के साथ उनका वैचारिक मतभेद चलता रहा। पत्नी उनके कवि–व्यक्तित्व से उतनी प्रभावित नहीं थी जितना कि उन्हें संपन्न जीवन प्रिय था। मुक्तिबोध के जीवन में आर्थिक संकट सदा बना रहा।

मुक्तिबोध को अध्ययन में बहुत रूचि थी। रानाँद गाँच में अध्ययन–अध्यापन दोनों समानान्तर जारी थे। उन्होंने अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी उपन्यासों के अध्ययन के साथ जासूसी उपन्यासों, वैज्ञानिक उपन्यासों, विभिन्न देशों के इतिहास इत्यादि का गूढ़ अध्ययन किया। वर्ष 1942 में मुक्तिबोध ने 'मध्य भारत प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की। वर्ष 1945 में हंस पत्रिका के संपादकीय विभाग में भी कार्यरत रहे।

15.3.2 मुक्तिबोध का साहित्यिक परिचय

हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवि, गद्यकार और आलोचक गजानन माधव मुक्तिबोध 'तार सप्तक' के प्रथम कवि रहे। उनकी पहली कविता 1943 में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा संपादित पत्रिका 'तार सप्तक' में छपी। मुक्तिबोध के विचारों पर मार्क्सवाद की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट देखने को मिलता है। प्रगतिशील कविता और

नयी कविता के मध्य का सेतु गजानन माधव मुक्तिबोध को माना जाता है। आइए उनकी रचनाओं की जानकारी प्राप्त करते हैं–

इतिहास– 'भारत इतिहास और संस्कृति'

कविता संग्रह–'चांद का मुंह टेढ़ा', 'भूरी–भूरी खाक धूल', प्रथम तार सप्तक में रचनाएं प्रकाशित

कहानी संग्रह– 'काठ का सपना', 'सतह से उठता आदमी'

उपन्यास–'विपात्र'

आलोचना–'कामायनी : एक पुनर्विचार', 'नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएं'

निबंध संग्रह– 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' तथा अन्य निबन्ध, 'एक साहित्यिक की डायरी'

भाषा–मुक्तिबोध की भाषा में आपको संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ–साथ अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का प्रयोग बहुतायत में मिलता है। शैली की बात करें तो इनकी शैली भावपूर्ण है और चित्रात्मक, व्यंग्यात्मक, व्यंजनात्मक इनके काव्य में मिलता है। अपनी रचनाओं में वे मुख्यतः फैंटसी (Fantasy) का प्रयोग कर उसे प्रभावशाली बनाते हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध की अंतिम रचना वर्ष 1962 में 'भारत : इतिहास और संस्कृति' प्रकाशित हुई। जिस पर मध्य प्रदेश सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था। मध्य प्रदेश सरकार के इस रचना पर प्रतिबन्ध लगाने से लेखक को गहरा आघात लगा। 17 फरवरी 1964 में मुक्तिबोध को पक्षाघात (Paralyris) हो गया और सेहत में सुधार न होकर स्थिति गंभीर होती चली गई। जिन्दगी और मौत के मध्य संघर्ष करते–करते 11 सितंबर 1964 को उनका निधन हो गया।

15.4 मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धांत

15.4.1 आलोचक मुक्तिबोध

विद्यार्थियों, गजानन माधव मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्तों को समझने से पूर्व उनके आलोचक रूप के प्रमुख बिन्दुओं से अवगत होना आवश्यक है। आइए जानते हैं उनके आलोचक रूप को।

मुक्तिबोध सर्जक होने के साथ–साथ समीक्षक भी हैं और उनका व्यक्तित्व इन दोनों का सुमेल है। उनका सर्जक और समीक्षक रूप आपस में गुंथे हुए हैं। मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धांतों को यदि समझना हो तो उनकी आलोचनात्मक कृतियों से होकर गुजरना पड़ता है। उन्होंने आलोचना सिद्धांतों पर अलग से कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है किंतु उनकी आलोचना से संबंधित पुस्तकों में उनके आलोचना सिद्धांत का दृढ़ रूप देखने को मिलता है। विभिन्न आलोचना पद्धतियों को वे अपने दृष्टिकोण से देखते हैं।

विद्यार्थियों उनकी आलोचना कृतियां 'कामायनी : एक पुनर्विचार' (1961), 'नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध' (1964), 'एक साहित्यिक की डायरी' (1964) और 'नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र' (1971) में उनके समीक्षक रूप और समीक्षा सिद्धांतों को समझा जा सकता है। जितना उनका कवि कर्म महत्वपूर्ण है उतना ही आलोचक कर्म भी महत्वपूर्ण है। पुष्पलता राठौर का उनके आलोचना कर्म और कवि कर्म के विषय में कहना है– ''उनका समीक्षक व्यक्तित्व, रचनाकार व्यक्तित्व से अलगाया नहीं जा सकता। ये दोनों उनके व्यक्तित्व में, सृजनात्मक स्तर पर एक दूसरे से सहज रूप से जुड़े हुए है। यह एक दूसरे को प्रभावित ही नहीं अन्तः स्पन्दित और रूपान्तरित भी करते हैं।''

उनकी पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' उनके आलोचना सिद्धांतों को समझने के लिए मूल आधार कही जा सकती है। इस 'डायरी' में 13 निबंध संग्रहित हैं–

'तीसरा क्षण', 'एक लम्बी कविता का अन्त', 'डबरे सूरज का बिम्ब', 'हाशिये पर कुछ नोट्स', 'सड़क को लेकर एक बातचीत' 'एक मित्र की पत्नी का प्रश्न–चिन्ह', 'नये की जन्म–कुण्डली : एक', 'नये की जन्म–कुण्डली : दो', 'वीरकर', 'विशिष्ट और अद्वितीय', 'कुटुयान और काव्य सत्य', 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : एक', 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : दो'।

श्रीकान्त वर्मा उनकी इस पुस्तक के विषय में लिखते हैं–'डायरी' शब्द एक भ्रम पैदा करता है और यह गलतफहमी भी हो सकती है कि मुक्तिबोध की ये डायरियाँ भी तिथिवार डायरियाँ होंगी। लेकिन वास्तविकता यह है कि 'एक साहित्यिक की डायरी' केवल उस स्तम्भ का नाम था जिसके अन्तर्गत समय–समय पर मुक्तिबोध को अनेक प्रश्नों पर विचार करने की छूट न केवल सम्पादक की ओर से बल्कि स्वयं अपनी ओर से भी होती थी।''

इस पुस्तक की शैली की बात की जाए तो यह अपने भीतर निबंध, संस्मरण, वाद–विवाद और मनोविश्लेषण को एक साथ लिए चलती है जिससे इसे किस साहित्य विधा

में रखा जाए यह कहना कठिन है। मुक्तिबोध स्वयं इसे डायरी कह रहे हैं तो इसके निबंध उनके साहित्यकार के रचना कर्म, आलोचक कर्म को गूढ़ता से अभिव्यक्त करते हैं जो मुक्तिबोध के विचारक रूप को स्पष्ट करता है और साहित्यकार के लिए मार्गदर्शन का कार्य करती है।

15.4.2 आलोचक के प्रतिमान

मुक्तिबोध ने जहाँ अपनी समीक्षा रचनाओं में आलोचना के सिद्धांतों को स्पष्ट किया है वहीं आलोचक के प्रतिमान भी स्पष्ट किए हैं। समकालीन आलोचना में आलोचकों की एकांगी दृष्टि से वे भली–भांति परिचित थे। आलोचक को पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों से मुक्त करने का प्रयास वे अपनी समीक्षात्मक कृतियों के माध्यम से करते हैं। उन्होंने आलोचकों में जिन प्रतिमानों को आवश्यक माना है उसमें सबसे पहले वे आलोचक में अहंकार शून्यता का भाव चाहते हैं। उनका मानना है कि यदि यह अहंकार आलोचक पर हावी होगा तो रचना के साथ न्याय संभव नहीं। अपने निबंध 'डबरे पर सूरज का बिम्ब' में उनका यह कथन इस तथ्य को स्पष्ट करता है–''आलोचक साहित्य का दारोगा है। माना कि दारोगापन बहुत बड़ा कर्त्तव्य है–साहित्य, संस्कृति, समाज, विश्व तथा ब्रह्माण्ड के प्रति। लेकिन मुश्किल यह है कि वह जितना ऊँचा उत्तरदायित्व सिर पर ले लेता है, अपने को उतना ही महान अनुभव करता है।'' अतः उनका मानना है कि इस अहंकारमयी स्थिति से आलोचक को सदैव बचना होगा।

दूसरा, मुक्तिबोध समीक्षक कर्म को रचनाकार से अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील मानते हैं। इसलिए समीक्षक को सृजनशील व्यक्तित्व का निर्माण करना होगा ताकि वह उचित समीक्षा कर सके।

तीसरा, समीक्षक के विषय में उनका पुरजोर मानना है कि वह परिवेश का संवेदनात्मक और ज्ञान संवेदनात्मक अध्ययन वह करे क्योंकि समीक्षक पर उत्तरदायित्व अधिक है। समीक्षक रचना संबंधी परिवेश और असल जीवन को जानने के पक्षधर हैं तभी एक समीक्षक सच्ची आलोचना कर सकता है।

चौथा समीक्षक मानव यथार्थ की स्थितियों से परिचित होना चाहिए। समीक्षक यदि मानव यथार्थ से दूर रह गया तो उसकी आलोचना भी अधूरी रह जाएगी। मुक्तिबोध का कहना है–''जो समीक्षक, समीक्षा में मानव–यथार्थ से दूरी, लम्बे चौड़े फासले तैयार करते हैं, उनकी समीक्षा अधूरी, असंगत और भ्रामक होती है।'' (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध) उनका मानना है कि साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव सत्ता का अध्ययन है।

पाँचवे, मुक्तिबोध ने जीवन विवेक और जीवन मर्यादा को आलोचक का अनिवार्य गुण माना है। साहित्य में जीवन ही परिलक्षित होता है अतः साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक है।

छठा, आलोचक यथार्थ की गति का सर्वांगीण अंकन करने में सक्षम होना चाहिए। ''यथार्थ की गति को अनुकूल दिशा में मोड़ने के लिए, यथार्थ के व्यक्त रूपों का, समग्र व्यक्त रूपों का, उनकी गति और स्थिति में अध्ययन करें।'' (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध से)

सातवां, जीवन भूमि और नई काव्य प्रवृत्तियों की समानान्तरता को महत्त्व देना समीक्षक का गुण होना चाहिए। आलोचक में गतिशील काल सापेक्ष जीवनानुभव और समीक्षा दृष्टि के होने को मुक्तिबोध आवश्यक मानते हैं।

आठवां, आलोचक में आत्मनिरपेक्ष सतर्कता होनी आवश्यक है। वे मानते हैं कि आलोचक जब तक काव्य प्रवृत्ति के आधार भूत मानव जीवन से अपने आत्मसंबंध को पूर्ण रूप से स्थापित नहीं करता तब तक वह उस काव्य प्रवृत्ति के तथ्यों को समग्र रूप में उपस्थित नहीं कर सकता।

नवां, वह मानते हैं कि समीक्षक को साहित्य के अन्तर्तत्वों का विश्लेषण अवश्य करना चाहिए अर्थात् यदि आलोचक साहित्य के भीतर के गतिमान प्राण तत्वों का मार्मिक और संवेदनात्मक आकलन कर आगे बढ़ेगा तभी वह कलाकृति को समग्रता में पहचान कर उसका कलात्मक मूल्यांकन करने में सक्षम होगा।

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध का समीक्षक के गुणों के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट है और समीक्षक–व्यक्तित्व का व्यापक दृष्टि से अवलोकन करता है। आलोचना को सार्थक और समग्रता देने में समीक्षक के इन गुणों का वर्णन आलोचना को एक पूर्ण रूप देने में सक्षम होगा।

15.4.3 आलोचना के प्रतिमान

मुक्तिबोध ने समकालीन आलोचना की असंगतियों और अंतर्विरोधों को अपनी एकाग्र दृष्टि से परखने की पहल की और अपनी सूक्ष्म और वैज्ञानिक दृष्टि से उसे प्रस्तुत किया। उनकी इस दृष्टि से आलोचना की परंपरागत दृष्टि को विकास–दिशा मिली और नए आलोक की प्रतिस्थापना हुई। उनके आलोचना सिद्धांतों ने आलोचना के अभाव पक्षों को नई सृजनात्मक शक्ति प्रदान करने का कार्य किया। उनकी व्यापक और व्यावहारिक दृष्टि उनके आलोचना सिद्धांतों को परिभाषित करने में सक्षम हुई है।

आइए अब जानते हैं कि गजानन माधव मुक्तिबोध आलोचना के कौन–कौन से सिद्धांत देते हैं–

पहला, लेखक की रचना प्रक्रिया का प्रथम और निगूढ़ अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत और उसका अध्ययन आलोचना का प्रस्थापन बिन्दु है। मुक्तिबोध का मानना है कि आलोचक कृतिकार के आन्तरिक अभिप्रायों तक पहुँचकर उसकी सृजन–प्रक्रिया का विश्लेषण करता है। ''आलोचक, किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंहद्वार से, सीधे अन्तर्जगत में प्रवेश करता है, वह अन्तर्जगत जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व उसके जीवनानुभव, उसकी भाव–दृष्टि समायी हुई है।'' (नयी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र से)

दूसरा, मुक्तिबोध मानते हैं कि आलोचना की सार्थक सफलता का केंद्र है आलोचक–व्यक्तित्व की सार्थक भूमिका। मुक्तिबोध का इस संदर्भ में ये कथन द्रष्टव्य है–''आपका प्रभाव आपकी समीक्षा में उद्भासित उदात गंभीर, कोमल, नम्र और अनुरागपूर्ण व्यक्तित्व से होगा, न कि सैद्धान्तिक कलह की भयानक उत्तेजनाओं के विध्वसंवादी स्वर से।'' (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध से)

तीसरा, वे साहित्य में मानवीय सत्ता की महत्वपूर्ण अनिवार्य स्थिति उसका सापेक्ष मूल्यांकन को मानते हैं। साहित्य के अध्ययन को वे मानव सत्ता का अध्ययन स्वीकार करते हुए कहते हैं– ''साहित्य तथा युग के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मूलभूत जिज्ञासा, एक ऐसी जिज्ञासा है जो ऐतिहासिक विकास की मानवीय प्रक्रियाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति का अनुसंधान करना चाहती है।'' (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र से)

चौथा, आलोचना में वे आचार्य शुक्ल के ज्ञान और संवेदना को ज्ञान संवेदन और संवेदन ज्ञान के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। वे मानते हैं कि जो समीक्षा ज्ञान संवेदन और संवेदन ज्ञान से परे चली जाती है वह सम्यक नहीं कही जा सकती है। समकालीन समीक्षा के प्रति उनका यही आक्षेप रहा कि उसमें जीवन सत्यों के आधार पर सिद्धांतों का परीक्षण और प्रयोग नहीं किया गया। उनका कहना है– ''इस ज्ञान संवेदन और संवेदन ज्ञान के परे जाने वाली समीक्षा में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है न सम्यकता।'' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध से) उनका यह मानना है कि कोरा ज्ञान या कोरी संवेदना कभी भी पूर्ण समीक्षा नहीं कर सकती अतः ज्ञान संवदेन और संवेदन ज्ञान दोनों का मेल आवश्यक है।

पांचवा, आलोचना में मानव और जीवन यथार्थ की सम्पृक्ति आवश्यक है। उनका मानना है कि समीक्षक मानव–आस्था का निर्माण कर सकता है किंतु उसके लिए आवश्यक है कि वो मानव–आस्था और प्रगाढ़ जीवन–सम्पर्क को बनाए रखे। वह इसकी पुरजोर हिमायत भी करते हैं। उनके शब्दों में– ''कहना न होगा कि समीक्षा को मानवीय यथार्थ से नाता जोड़े बिना कोई मूल्य नहीं दिया जा सकता।'' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध से)

छठा, मुक्तिबोध जीवन–मूल्य और आलोचना मूल्यों की सापेक्षता को महत्त्व देते हैं। वे वृथा भावुकता और वृथा बौद्धिकता को उचित नहीं मानते। जिया जाने वाला और भोगा जाने वाला वास्तविक जीवन समीक्षक की समाजशास्त्रीय दृष्टि को अनुप्राणित करता है। वे कहते हैं–''जिए जाने वाले और भोगे जाने वाले वास्तविक जीवन द्वारा ही, समीक्षक के मान मूल्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि अनुप्राणित होनी चाहिए।'' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध)

सातवां, वे आलोचना में मूल्य–भावना की समानान्तरता की बात करते हैं। उनका मानना है कि मूल्य भावना के बिना आलोचन–कर्म असंभव हैं। वे कहते हैं कि अस्तित्व–संघर्ष के दौरान इसका जन्म होता है। जीवन चेतना से उद्‌भूत होने पर ही आलोचना की सार्थकता है। वे आलोचना के मानव–सापेक्ष रूप को महत्त्व देते हैं।

आठवां, आलोचना के क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए वे उस साहित्य के अन्तर्तत्व की व्याख्या मानते हैं। यदि समीक्षा कृति के भीतरी तत्वों को हृदयंगम कर उसकी समुचित व्याख्या करना है। इसी संदर्भ में प्रगतिवादी समीक्षा में इस अभाव को समीक्षा की असफलता मानते हैं। साहित्य प्रवृत्ति की आन्तरिक विशेषताओं के साथ ही उस प्रवृत्ति के भीतर जो व्यक्ति–स्थिति, वर्ग स्थिति और समाज स्थिति की झलक है उसको आत्मगत कर आगे बढ़ना ही सच्ची समीक्षा है।

नवां, संवदेनात्मक समीक्षा दृष्टि को विशेष महत्त्व देते हुए मुक्तिबोध समीक्षक के लिए सहृदय होकर समीक्षा–दृष्टि को विकसित करने पर जोर देते हैं। इसके संवेदनात्मकशील समीक्षा दृष्टि के अभाव में रचना के साथ न्याय कर पाना असंभव है। उनका यह अनुभव प्रगतिवादी आलोचना पद्धति की संवदेनाहीन समीक्षा दृष्टि से उपजा है इसलिए समीक्षा को पुनः सही तथ्यों में विकसित होने के लिए वे सहृदयता को महत्त्व देते हैं।

दसवां, आलोचना को सृजनशीलता मानते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि आलोचक का कार्य वस्तुतः कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयपूर्ण और सृजनशील होता है। रचनाकार और समीक्षक के रूप में उनका स्वयं का व्यक्तित्व इसका उदाहरण है जिसमें दोनों (रचनाकार और समीक्षक रूप) सृजनात्मक स्तर पर एक दूसरे से सहज रूप में जुड़े हुए हैं।

ग्यारहवां, आलोचना में तटस्थता को वे निष्पक्षता से जोड़ने की बात करते हैं। समकालीन प्रगतिवादी आलोचना को ध्यान में रखते हुए वे उनकी आलोचना पद्धति की पक्षधारता के कारण ही अपनी इस दृष्टि को निर्मित करते हैं। उनका मानना है–''मानव यथार्थ का ताना–बाना बहुत गहरा और सूक्ष्म होता है। हमें इस यथार्थ का विश्लेषण करके छोड़ देना चाहिए। यदि वह विश्लेषण हमारे अनुकूल न निकले तो दुखी होने की जरूरत नहीं और सचमुच निकले तो बात ही क्या।'' (एक साहित्यिक की डायरी से)

15.6 सारांश–

सारांशतः हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध समकालीन हिन्दी आलोचना के कीर्तिस्तंभ हैं और उनकी स्थापनाएं अपने पूर्व और पश्चात् काल की संतुलित चेतना से उद्भासित होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। उनके आलोचना सिद्धांत भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के प्रतिमानों का समाहित रूप हैं। उनके आलोचना सिद्धांत प्रासंगिक हैं और सदा प्रासंगिक रहेंगे क्योंकि समय की गति के साथ–साथ उनका विस्तार–क्षेत्र बढ़ता जाएगा। उनके ये सिद्धांत एकांगी न होकर मनोविश्लेषण, साहित्यिक, प्रभावाभिव्यंजक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा इस–दृष्टि का एक ऐसा योग है जो स्वयं अपना प्रतिमान है। कहना न होगा कि उनके आलोचना सिद्धांत वस्तुतः स्थायी रहने में सक्षम हैं, क्योंकि उनमें सिद्धांतों की एकांगी कट्टरवादिता न होकर सहज विवेक–धर्म का संस्पर्श है। उनके आलोचना सिद्धांतों का भविष्य है–क्योंकि ऐसी संतुलित समीक्षा–दृष्टि साहित्य के प्रतिमानों को स्थायित्व प्रदान करने में सक्षम होती है।

15.7 कठिन शब्द

1. प्रतिमान
2. पुनर्विचार
3. फैंटेसी
4. सृजनात्मक
5. सर्जक
6. पूर्वाग्रहों
7. दुराग्रहों
8. संवेदनात्मक
9. समानान्तरता
10. अंतर्विरोधों
11. अन्तर्जगत
12. उद्भासित
13. सहृदयता
14. समीक्षक
15. स्थायित्व

15.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मुक्तिबोध के जीवन और साहित्यिक परिचय पर प्रकाश डालिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. गजानन माधव मुक्तिबोध के आलोचक रूप को स्पष्ट कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. गजानन माधव मुक्तिबोध के आलोचक के गुणों के प्रति विचार स्पष्ट कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. मुक्तिबोध के आलोचना–सिद्धांतों पर प्रकाश डालिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एक साहित्यिक की डायरी, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
2. कामायनी : एक पुनर्विचार, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि, कृष्णदत्त शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड
4. मुक्तिबोध के आलोचना–सिद्धांत, पुष्पलता राठौर, पंचशील प्रकाशन, जयपुर

————————

मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया सम्बन्धी स्थापनाएँ

रूपरेखा

16.1 उद्देश्य

16.2 प्रस्तावना

16.3 निबंध 'तीसरा क्षण' का सार

16.4 निबंध 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी–एक' का सार

16.5 मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया सम्बन्धी स्थापनाएँ

16.6 सारांश

16.7 कठिन शब्द

16.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरांत आप

- मुक्तिबोध के निबंधों के आधार पर उनकी रचना–प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- रचना–प्रक्रिया संबंधी मुक्तिबोध के विचारों से अवगत होंगे।
- रचनाकार और आलोचक के लिए रचना–प्रक्रिया के महत्त्व से अवगत होंगे।

16.2 प्रस्तावना

रचनाकार समाज में घट रही घटनाओं से संवेदना के धरातल पर अनुभूतियों को संजोता है और कल्पना के माध्यम से अपनी लेखनी से उसे अभिव्यक्ति देता है। अभिव्यक्ति

के पूर्व वह कई पड़ावों से गुजरता है। इन पड़ावों में उसके भीतर उद्वेलन की प्रक्रिया होती है जिसमें विचारों की उधेड़–बुन उसे अनुभूत होती है। इन्हीं उधेड़–बुन के क्षणों में वह निर्माण–प्रक्रिया की ओर कदम बढ़ाने की ओर अग्रसर होता है। रचना का शब्दों के मूर्त्त रूप में ढलना आसान कार्य नहीं है अपितु एक जटिल प्रक्रिया है जिससे प्रत्येक रचनाकार गुजरता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक रचनाकार की रचना–प्रक्रिया भिन्न होती है। आलोचक और रचनाकार दोनों के लिए रचना–प्रक्रिया का अध्ययन और समझ आवश्यक है। रचनाकार से अधिक आलोचक दृष्टि को रचना–प्रक्रिया की समझ होना आवश्यक है तभी एक सच्ची और सार्थक आलोचना हो सकती है। हिंदी आलोचना में 'रचना प्रक्रिया' को व्यापक स्तर पर विचार और चर्चा के केन्द्र में लाने का श्रेय गजानन माधव मुक्तिबोध को जाता है। अपने विभिन्न निबंधों में उन्होंने रचना–प्रक्रिया को प्रत्येक कोण से देखा है और विस्तारपूर्वक चर्चा की है।

16.3 निबंध 'तीसरा क्षण' का सार

विद्यार्थियों गजानन माधव मुक्तिबोध की रचना–प्रक्रिया संबंधी उनकी स्थापनाओं को समझने से पूर्व 'एक साहित्यिक की डायरी' में संकलित उनके निबंध 'तीसरा क्षण' में उनके द्वारा दी गई रचना–प्रक्रिया संबंधी अवधारणा को समझना आवश्यक है।

इस निबंध में लेखक ने अपने मित्र केशव से विभिन्न विषयों पर हुए अपने वार्तालाप को बताया है। लेखक कुछ अपना सुनाते और कुछ अपने मित्र केशव का सुनते नज़र आते हैं। ये वार्तालाप साधारण वार्तालाप न होकर साहित्य और रचना–प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं का वार्तालाप है। इस निबंध में सौंदर्य–बोध, स्व–पक्ष, वस्तु पक्ष, तादात्मय, सृजन–प्रक्रिया, कला के तीन क्षणों की बात, फैण्टेसी तथा भाषा विषयक विचार प्रस्तुत हुए है। इन बिन्दुओं पर चर्चा करते हुए अपने मतों को लेखक ने व्यक्त किया है।

'सौन्दर्य बोध' पर हुई उनकी चर्चा में लेखक अपने मित्र केशव से असहमत दिखाई देते हैं। केशव का यह कहना कि वस्तु या दृश्य या भाव से जब मनुष्य एकाकार हो जाता है तब सौन्दर्य का बोध होता है लेकिन लेखक अपनी असहमति दिखाते हुए सोचते हैं कि सौन्दर्य की परिभाषा वो करें जो उससे अहूते हैं।

'स्वपक्ष' और 'वस्तु पक्ष' पर भी वे दोनों अपने विचार रखते हैं। जहाँ उन दोनों के विचारों में टकराहट होती है तो लेखक कह उठते हैं–

''यह तो मैं जानता हूँ कि सारे दर्शन का मूल आधार सब्जेक्ट–ऑब्जेक्ट रिलेशनशिप की कल्पना है–स्व–पक्ष और वस्तु–पक्ष की परिकल्पनाएँ और उन दो पक्षों के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना के आधार पर ही दर्शन खड़ा होता है।'' ('तीसरा क्षण'–एक साहित्यिक की डायरी, पृ०–13)

मित्र केशव का यह कहना कि 'स्व–पक्ष' और 'वस्तु–पक्ष' दोनों जब एक होते हैं तो तादात्म्य उत्पन्न होता है। इससे लेखक तादात्मय के प्रति अपना विचार प्रकट करते हैं कि मन का तत्व भी वस्तु हो सकता है अतः वे कहते हैं–''मैं कहता हूँ कि मन का तत्त्व भी वस्तु हो सकता है और अगर यह मान लिया जाये कि मन का तत्त्व भी एक वस्तु है तो ऐसे तत्त्व के साथ तदाकारिता या तादात्मय का कोई मतलब नहीं होता क्योंकि वह तत्त्व मन ही का एक भाग है।'' (पृ०–13)

लेखक के मित्र का यह पूछना कि तुम सौन्दर्य की व्याख्या करोगे? सृजन–प्रक्रिया के विश्लेषण के रास्ते होते हुए सौन्दर्य–मीमांसा लेखक की हैसियत से करोगे या कलानुभव मार्ग से गुजरते हुए लेखक मित्र के इस प्रश्न का इमानदारी से उत्तर देते हुए कहते हैं–''मैं तो लेखक की हैसियत से ही सौन्दर्य की व्याख्या करना चाहूँगा। इसलिए नहीं कि मैं लेखक को कोई बहुत ऊँचा स्थान देना चाहता हूँ वरन् इसलिए कि मैं वहाँ अपने अनुभव की चट्टान पर खड़ा हुआ हूँ।''

लेखक आगे अपने मित्र से जो चर्चा करते है वह रचना–प्रक्रिया के प्रति उनके विचार स्पष्ट करती है। अपने मित्र केशव से वे कहते हैं–''मेरे ख्याल से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कला के तीन क्षण होते हैं। यदि उनमें जरा–सी भी भीतरी कमजोरी रही तो–चाहे वह बौद्धिक आकलन की कमजोरी हो या संवेदना क्षमता की हो–कृति पर उसका तुरन्त प्रभाव होगा।'' (पृ०–20)

सृजन–प्रक्रिया के इन तीन क्षणों को बीज तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि लेखक का मानना है कि इन तीन क्षणों में से एक के भी कमजोर होने पर रचना कमजोर हो जाएगी। लेखक कहते हैं कि कला का पहला क्षण है–जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है– अनुभव का अपने कसरते–दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसा फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैक्टेसी अपनी आँखों के सामने खड़ी हो। तीसरा क्षण है–इस फैण्टेसी के शब्द–बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की पूर्णावस्था तक की गतिमानता।

इस प्रकार लेखक ने अपने इस निबंध 'तीसरा क्षण' में कवि हृदय के भावों के विभिन्न पड़ावों के माध्यम से रचना के उद्‌भूत होने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। इसका पूर्ण विवरण हम स्थापनाओं में देखेंगे।

16.4 निबन्ध कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी–एक' का सार

गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपने निबंध 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी–एक' ('एक साहित्यिक की डायरी' पुस्तक में संकलित) में अपने मित्र यशराज को पढ़ने के लिए दी गई अपनी डायरी पर व्यक्त उनकी प्रतिक्रिया का वर्णन किया है। लेखक के मित्र यशराज उस डायरी में किए गए वर्णन को फ्रॉड कहते हैं जिस पर मुक्तिबोध अपने मित्र के साथ लम्बा वार्तालाप करते हैं। पूरे निबंध में कवि व्यक्तित्व के स्वरूप पर चर्चा होती है। मुक्तिबोध ने स्वगत कथन को डायरी में शब्दबद्ध किया है। यह वार्तालाप लेखक के आत्म संघर्ष को चित्रित करता है। यशराज मित्र के साथ व्यक्तिगत ईमानदारी को लेकर हुए अपने वार्तालाप के माध्यम से यशराज के मन में उपजे प्रश्नों का लेखक उत्तर देते हैं। यशराज का प्रश्न कि व्यक्तिगत ईमानदारी क्या है ? यशराज का मानना है कि अधिक से अधिक वह अभिव्यक्ति की ईमानदारी है और कुछ नहीं। लेखक मित्र के इस सवाल को स्पष्ट करते हुए अपना विचार रखते हैं कि व्यक्तिगत ईमानदारी का अर्थ है कि ''जिस अनुपात में, जिस मात्रा में, जो भावना या विचार उठा है, उसको उसी मात्रा में प्रस्तुत करना। जो भाव या विचार जिस स्वरूप को लेकर प्रस्तुत हुआ है, उसको उसी स्वरूप में प्रस्तुत करना लेखक का धर्म है।'' लेखक स्थापित कवि प्रतिभा के स्थान पर नए कवि व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करने के पक्ष में है। यशराज मध्ययुगीन भारतीय काव्य पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि कुछ अपवादों को छोड़ इस काल में प्रधान प्रवृत्ति वस्तुपक्ष ही रहा और आत्मपक्ष गौण रहा। छायावाद में आत्मपक्ष प्रधान रहा और वस्तुपक्ष गौण। मुक्तिबोध कहते हैं कि ये सदा उसके लिए भी रहस्य ही रहेगा कि वस्तु पक्ष और आत्मपक्ष का समन्वय कैसे हो।

नयी कविता के संदर्भ में यशराज अपना संशय अभिव्यक्त करते हैं कि यह भी एक लीक पर चल पड़ी है जो एक ही ढर्रे को आगे बढ़ाती है। उनका कहना है मानसिक प्रतिक्रिया में सत्यत्व तभी पैदा होगा जब उसमें वस्तुतत्व आ जाए लेकिन मुक्तिबोध उत्तर देते हैं कि काव्य प्रक्रिया ज्ञानात्मक प्रक्रिया नहीं है। वस्तुमूलक सत्य काव्य के भाव–सत्य से अलग है।

यशराज फिर प्रश्न उठाते हैं कि मानसिक प्रतिक्रिया जिस वस्तु के प्रति होती है उस वस्तु का चित्रण आवश्यक है और कवि उस वस्तुतथ्य के प्रति पूर्णतः सही मानसिक प्रतिक्रिया

करे। यह भी आवश्यक है। लेखक यशराज के प्रश्नों को अन्तर्मन में विचारते हुए टिप्पणी करते हैं कि लेखक अपने दृष्टिकोण से ही वस्तुतथ्य के प्रति प्रतिक्रिया करता है। संवेदना और दृष्टि से मिलकर ही मानसिक प्रतिक्रिया होती है। मानसिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के समय उसके पार्श्व में उसकी सम्पूर्ण विचारधारा अपना काम करती है। वस्तु तथ्य के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के पीछे कहीं न कहीं कवि का दृष्टिकोण अवश्य रहता है। इन प्रतिक्रियाओं में भी भीतर कई रुख रहते हैं जिससे कवि वस्तु तथ्य से दूर होकर बेईमानी करता है इसलिए होना तो यह चाहिए कि वह अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को जस का तस प्रकट कर दे। कवि को व्यक्तिगत मानसिक प्रतिक्रिया को स्वांग रचते हुए बढ़ा–चढ़ा कर न कहकर सच्चा रूप ही प्रस्तुत करना चाहिए न कि झूठा रूप। अतः कवि को व्यक्तिगत मानसिक प्रतिक्रिया को ही अभिव्यक्ति देनी चाहिए। इस निबंध में लेखक मुक्तिबोध ने रचनाकार की व्यक्तिगत इमानदारी को स्पष्ट किया है।

16.5 मुक्तिबोध की रचना–प्रक्रिया संबंधी स्थापनाएँ

मुक्तिबोध की रचना–प्रक्रिया को समझने से पूर्व रचना–प्रक्रिया का अर्थ जानते हैं–

'रचना–प्रक्रिया' शब्द को यदि आप देखें तो ये शब्द युग्म 'रचना' और 'प्रक्रिया' दो शब्दों के मेल से बना है जिसका अर्थ है रचना की प्रक्रिया अर्थात् रचना के जन्म लेने की स्थिति। मुक्तिबोध का मानना है–''रचना–प्रक्रिया सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसका संबंध–'कलात्मक रचना के मनोविज्ञान' से है।'' अब यह भी जान लेते हैं कि इसके अध्ययन की आवश्यकता क्यों है। जब कोई आलोचक किसी रचना की आलोचना करता है तो यह आवश्यक हो जाता है कि वह रचना–प्रक्रिया का ज्ञान रखता हो और उसे दृष्टि में रखते हुए रचनाकार की रचना से न्याय कर सके। मुक्तिबोध का मानना है कि इस रचना प्रक्रिया का विवेचन–विश्लेषण आलोचक के कर्त्तव्य–कर्म का अनिवार्य अंग है या होना चाहिए, उसकी विचारधारा चाहे जो हो। रचनाकार के अन्तर्जगत अर्थात् उसके भीतर के भावों को उजागर कर पाठक वर्ग के सम्मुख लाना आलोचक का ध्येय होना चाहिए।

'तीसरा क्षण' निबन्ध गजानन माधव मुक्तिबोध की रचना 'एक साहित्यिक की डायरी' में संकलित है। इस निबंध के विषय में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं किन्तु अब हम इस निबन्ध में रचना–प्रक्रिया संबंधी मुक्तिबोध की क्या स्थापनाएँ है उन पर विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

जैसा कि ऊपर किए गए वर्णन से अब ज्ञात होता है कि मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षण माने हैं और उन्हीं तीन क्षणों के माध्यम से रचनाकार के भीतर की रचना–प्रक्रिया जो अन्ततः शब्दों का रूप लेती है का वर्णन उन्होंने किया है। उनका मानना है कि पहला क्षण जिसे वे 'जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव–क्षण' कहते हैं वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी पहले क्षण में अनुभूति का जन्म रचनाकार के भीतर होता है जो आगे के आवेग को निर्धारित करता है। मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने का प्रथम धक्का यह क्षण ही देता है। मुक्तिबोध के निबन्ध 'तीसरा क्षण' के ये शब्द देखिए–''प्रथम क्षण निस्सन्देह अनुभव का क्षण है। उसके बिना आवेग और आगे की गति असम्भव है।'' (पृ०–21) अर्थात् प्रथम क्षण में ही रचनाकार के भीतर अनभुव की गति तीव्र होती है जो उसे विशेष अनुभूति और संवेदना के क्षणों में ले जाती है जहाँ वह डूबता–उतरता अन्य मनस्तत्त्वों से जुड़ता है। इस प्रथम क्षण के समय ही अनुभूत पल साधारण से विशेष क्षण की ओर अग्रसर होने लगते हैं, इसलिए मुक्तिबोध लिखते हैं–''ज्यों ही यह घटना होती है अनुभव के मूल अपनी दुखित हुई भूमि से पृथक हो जाते हैं अर्थात् वे निरे वैयक्तिक न रहकर अपने से परे हो उठते हैं।'' (पृ०–21)

मुक्तिबोध इस प्रथम क्षण को महत्त्व देते हैं जहाँ रचना के मूर्त्त रूप तक पहुँचने के वे बीज बोए जाते हैं जो अन्ततः शब्दों का रूप लेते है। इस क्षण में रचनाकार आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया से गुजरता है अर्थात् अपने अन्तर्मन में गोते खाता है। इसी प्रथम क्षण के विषय में कृष्णदत्त शर्मा लिखते हैं–''कलाकार के जीवन में आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।'' प्रथम क्षण में अनुभूति के पल जोरदार असर करते हुए रचनाकार को आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया के भीतर ले जाते है।

मुक्तिबोध का मानना है कि कला का दूसरा क्षण 'इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी ही है।' उनका मानना है इस दूसरे क्षण में फैण्टेसी में भावात्मक उद्देश्य की संगति आ जाती है। यहाँ भाव वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक होने लगते हैं और वह वास्तविक अनुभव से अलग रंगों में ढलने लगती है। मुक्तिबोध लिखते हैं–''वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैण्टेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतन्त्र बन बैठी।'' इसलिए वे फैण्टेसी का अर्थ भी स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं–फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र

विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।'' अर्थात् अनुभूत भावों से रचनाकार फैण्टेसी में पहुँचता है और वही अनुभूत भाव अन्त में शब्द–बद्ध होते हैं। फैण्टेसी के ये क्षण इसीलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि रचनाकार के भीतर ये क्षण भावों को मूर्त्त रूप की ओर अग्रसर करते हैं।

कला का तीसरा क्षण 'फैण्टेसी के शब्द–बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक पहुंचने की गतिमानता है।' इस तीसरे क्षण में प्रथम दो क्षणों की या़त्रा फलीभूत हो शब्दों में ढल कर नवीन रूप लेती है। भावों के प्रवाह के अन्तिम क्षण में शब्द–बद्ध होकर भाव बाहर आते हैं। इसीलिए मुक्तिबोध स्पष्ट करते हैं कि रचनाकार जब फैण्टेसी को शब्द–बद्ध करने की प्रक्रिया का आरंभ करता है तो वह कला का तीसरा क्षण है। फैण्टेसी के सारे रंग इसी क्षण में धुलकर बहने लगते हैं अर्थात् रचना शब्द रूप लेने लगती है। वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–''..... सारा व्यक्तित्व और उसकी समस्त चेतना उस फैण्टेसी के बहते रंगों के साथ बहने लगती है और शब्द–बद्ध होने पर अथवा चित्रित होने पर जो कृति या रचना तैयार होती है वह कृति या रचना कला के दूसरे क्षण की फैण्टेसी की पुत्री है, प्रतिकृति नहीं।'' स्पष्ट है कि ये तीन क्षण रचनाकार के भीतर भावों की प्रवाहिनी बहाते हैं जो अन्त में शब्दमय होकर नया रूप धारण करती है। इन तीन क्षणों के बिना मुक्तिबोध कला को असम्भव मानते हैं क्योंकि इसी के भीतर गुजरता रचनाकार अपने अनुभूत भावों को मूर्त्त रूप देता है। उनके शब्दों में–''इन तीन क्षणों के बिना कला असम्भव है।''

इन तीन क्षणों के साथ–साथ मुक्तिबोध सौन्दर्य, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना और फैण्टेसी का विस्तारपूर्वक वर्णन वे अपने निबन्ध–'तीसरा क्षण' में करते हैं। वे मानते हैं कि रचनाकार जिस सौन्दर्य का अनुभव करता है वह उसकी सृजनशील कल्पना के सहारे संवेदित अनुभवों का ही विस्तार है। इस सौन्दर्य अनुभूति से रचनाकार को लगने लगता है कि उसके विचार सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके विषय में वे लिखते हैं–''यह इसलिए होता है कि दृष्टि की स्थिति–मुक्त वैयक्तिकता और संवेदना की स्थिति बद्ध वैयक्तिकता का समन्वय होकर वह समन्वय अपने से उच्चतर स्थिति में पहुँच जाता है।''

उनका मानना है कि फैण्टेसी में संवेदनात्मक ज्ञान (संवेदना और ज्ञान) और ज्ञानात्मक संवदेना (ज्ञान और संवेदना) रहती हैं अर्थात् संवेदना के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना संवेदना

को मुक्तिबोध अपूर्ण और अधूरा मानते हैं। इन्हीं संवेदना और ज्ञान के क्षणों में रचनाकार का अन्तर्मन छलछलाता है–''दर्शक का ज्ञान और भोक्ता की संवेदना परस्पर–विलीन होकर अपने से परे उठने की भंगिमा को प्रोत्साहित करती रहती है।''

फैण्टेसी में भावनात्मक उद्देश्य समाया रहता है और एक संवेदनात्मक दिशा रहती है जो कि उसके मर्म–प्राण हैं। यह हमेशा गतिमान रहती है जिससे रचनाकार के भीतर भाव रचती रहती है। फैण्टेसी वह फैलाव है जो मूल मर्म को अनेकों रंगों में ढालती है और नए रूप में उदयमान होती है। फैण्टेसी का यह तीसरे क्षण में रूप बदलकर उदभूत होना महत्त्वपूर्ण है। इसी क्षण में जीवनानुभवों से उत्पन्न भाव धीरे–धीरे नए रूप और रोशनी में आने लगता है।

भावों का शब्द–बद्ध होना अर्थात् मूर्त्त रूप लेना साधारण क्षण नहीं है अपितु यह पूर्णता का क्षण है जिसमें फैण्टेसी साहित्यिक कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है। मुक्तिबोध मानते हैं कि कलाकार शब्द–साधना अर्थात् रचना को मूर्त्त रूप देते समय उसमें अपने हृदय तत्त्वों के अनुसार रंग, रूप, आकार के अनुसार, अभिव्यक्ति का रंग–रूप आकार तैयार करने के लिए तत्पर हो जाता है।

मुक्तिबोध कहते हैं कि तीसरे क्षण में सृजन–प्रक्रिया जोरों से गतिमान होती है। शब्दों के पीछे अर्थ–परम्परा काम करती है और ये अर्थ जीवनानुभवों से जुड़े हैं। शब्दों के ढाँचे में फैण्टेसी को फिट करना पड़ता है। इस तीसरे क्षण में मूल द्वन्द्व वे भाषा तथा भाव के बीच मानते हैं जो रचनाकार की साधना का पूर्ण रूप है। इसी रूप में ये तीनों क्षण रचना को रूप देते हैं।

आइए विद्यार्थियो! अब हम गजानन माधव मुक्तिबोध के निबंध 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी–एक' के आधार पर उनकी रचना–प्रक्रिया संबंधी स्थापनाओं की चर्चा करते हैं। इस निबंध का शीर्षक हमें स्पष्ट करता है कि इसमें लेखक ने कलाकार (रचनाकार) को व्यक्तिगत रूप से ईमानदार रहने की बात की है। रचनाकार जो अनुभूत करता है और जितना अनुभूत करता है उसे उसी मात्रा और अनुपात में प्रस्तुत करने को मुक्तिबोध ईमानदारी मानते हैं। वैचारिक और ज्ञानात्मक संघर्ष को लेखक ने कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी की संज्ञा दी है ताकि जो अनुभूत किया गया है वह उसी रूप में अभिव्यक्ति पा सके।

मुक्तिबोध काव्य–रचना की समकालीन परिस्थितियों से भली–भांति परिचित थे क्योंकि प्रगतिवादियों पर यह आरोप लग रहे थे कि उन तबकों और जीवन का चित्रण हो रहा है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें है ही नहीं अतः काव्य में अभिव्यक्ति की ईमानदारी नहीं है। अनुभव की प्रामाणिकता आवश्यक है ताकि चित्रण में सत्यता की स्थापना हो सके।

मुक्तिबोध का मानना है कि आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष का संतुलन आवश्यक है क्योंकि आत्मपक्ष की प्रधानता होने से वस्तुपक्ष उपेक्षित हो जाएगा जिससे कलाकार का चित्रण एक पक्षीय होकर अपना महत्त्व खो बैठेगा। इसीलिए मुक्तिबोध ने कलाकार की आत्मनिष्ठा का विरोध किया और साथ ही वस्तुनिष्ठता को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए भावना में बोध के सानुपातिक समावेश की अनिवार्यता पर बल दिया और इन्हीं सब बातों के ही समुचित निर्वाह को कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी मानते हैं। व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ होगी जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्व के प्रति सही–सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि ऐसा नहीं करता तो उसी प्रतिक्रिया में सत्यत्व का आविर्भाव नहीं होगा।

मुक्तिबोध का यह विचार है कि संवेदना और दृष्टि दोनों से मिलकर ही मानसिक प्रतिक्रिया होती है क्योंकि कवि की मानसिक प्रतिक्रिया में संवेदना के साथ–साथ दृष्टिकोण भी अन्तर्भूत है। इसी मानसिक प्रतिक्रिया को वे ज्यों का त्यों और ठीक–ठीक अनुपात और मात्रा में प्रकट करने की बात कहते हैं।

अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत निबंध में मुक्तिबोध कलाकार से अनुभूत भावों के प्रस्तुतिकरण के समय ईमानदारी की अपेक्षा करते हैं ताकि सत्यत्व को प्रस्तुत किया जा सके। इस निबंध में उन्होंने कवि के काव्य–कर्म को नए और सटीक पक्ष में अभिव्यक्त किया है ताकि रचना–प्रक्रिया को समझा जा सके।

गजानन माधव मुक्तिबोध पुनः–पुनः रचना–प्रक्रिया पर चर्चा करते हैं और रचनाकार के भीतर की उथल–पुथल से अन्तिम रूप तक पहुँचने की यात्रा को पाठक और आलोचक के समक्ष रखते हैं जिससे रचना से न्याय हो। उक्त विवेचन उपरान्त यह स्पष्ट है कि रचना–प्रक्रिया एक व्यापक विषय है। व्यापकता के साथ–साथ इसमें जटिलता भी है जिसे मुक्तिबोध बार–बार स्पष्ट करते और समझाते हैं। उनके अन्य अनेक लेखों और कृतियों में 'रचना–प्रक्रिया' को पुनः–पुनः विश्लेषित किया गया है। यथा 'वस्तु और रूप', 'काव्य की रचना–प्रक्रिया, 'कला की रचना–प्रक्रिया', 'नई कविता का आत्म संघर्ष', 'काव्य एक

सांस्कृतिक प्रक्रिया', 'सौंदर्यानुभूति और जीवन–अनुभव', 'साहित्य में जीवन की पुनर्रचना', 'आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि, 'नई कविता की प्रकृति', 'रचनाकार का मानवतावाद' आदि अनेक निबंधों में उन्होंने रचना–प्रक्रिया संबंधी विचारों को स्पष्ट किया है। समीक्षा कृति 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में भी रचना–प्रक्रिया संबंधी उपयोगी सामग्री है।

रचना–प्रक्रिया के विवेचन–विश्लेषण का सिलसिला 'नई कविता' के दौर में शुरू हुआ। आत्मपरक कविता को ध्यान में रखकर यह चर्चा आरंभ हुई। मुक्तिबोध यह मानते हैं रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण से विमुखता लाभकर नहीं अपितु हानिकर है। उन्होंने रचना–प्रक्रिया को जीवन की समानांतर प्रक्रिया के रूप में प्रतिष्ठित किया और सृजनशीलता के व्यापक संदर्भों से जोड़ा। उनकी रचना–प्रक्रिया की चिंता गंभीर थी। कृष्णदत्त शर्मा स्पष्ट करते हैं–''उनकी मूल चिंता यह थी कि क्या किया जाए जिससे 'नई कविता' का सतहीपन दूर हो और वह 'वैविध्यपूर्ण जीवन–क्षेत्र' का प्रतिनिधित्व कर सके। साथ ही उसमें आत्मपरकता के 'खरे और भरे रंग' हों।

नई कविता से मुक्तिबोध को शिकायत थी, कि उसमें अंतरात्मा अपने पूरे विश्बोध और समग्र अनुभूति को प्रस्तुत करती प्रतीत नहीं होती। इसीलिए वे रचना–प्रक्रिया के बिन्दुओं को प्रखरता से अपने निबंधों में उठाते हैं और विभिन्न स्थापनाएँ देते हैं–उनका मानना है कि रचनाकार का व्यक्तित्व अनेक विकास स्तरों को पार करता है। वे आत्म–निरीक्षण और आत्म–संघर्ष और आत्म–निरीक्षण तीव्र होना चाहिए जिससे कि वह कंडीशंड साहित्यिक रिफलैक्स से जूझ कर उभर सके। इसलिए वे कहते हैं–''रचना–प्रक्रिया का एक बहुत बड़ा अंग आत्म–संघर्ष है। रचना–प्रक्रिया वस्तुतः एक खोज और एक ग्रहण की प्रक्रिया है।''

कवि के चेतना–स्तर में जीवन–जगत के प्रति उसका दृष्टिकोण शामिल हो ऐसा मुक्तिबोध मानते हैं। इसी जीवन–जगत के संवेदनातमक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवदेना के भीतर मार्मिक आलोचक–दृष्टि समाई रहती है और इसके बिना कवि–कर्म अधूरा है। रचना–प्रक्रिया को वे वस्तुतः एक खोज और एक ग्रहण मानते हैं। अभिव्यक्ति के समय कवि नई खोज भी कर लेता है।

रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हुए मुक्तिबोध उसे स्वायत्त मानते हैं। वे ये भी कहते हैं कि यह स्वायत्त प्रक्रिया मूल उद्वेगों और अनुरोधों के सहारे चली चलती है। उनका कहना

है–''ये उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है, जिसको हाथ में लेकर उसे आगे चलना होता है।'' वे मानते हैं कि कवि को आत्म–समृद्धि को प्राप्त करना पड़ता है। वास्तविक जीवन में आत्म–समृद्धि प्राप्त करते हुए मनुष्यता के प्रधान लक्ष्यों से एकाकार होने की क्षमता विकसित करनी पड़ती है।

रचनाकार अपने रचना कर्म के समय अपने भावों और शब्दों में तुलना करता है। उसे वे शब्द साधना मानते हैं। उसका अपना शब्दाभिव्यक्ति से संतुष्ट होना वह चरम है जब वह पूर्णता का अनुभव करता है–''जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति उसी के लिए रमणीय हो जाती है, तब वह सन्तुष्ट हो जाता है, भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन–प्राप्त सूक्ष्म दृष्टि के अनुसार, फिर से संशोधन करे।'' मुक्तिबोध अपने निबन्ध ''रचनाकार का मानवतावाद'' में भी रचना–प्रक्रिया पर चर्चा करते हैं। उनका नई कविता के विषय में मानना था कि उसमें प्रेरणामय मानवतावादी दृष्टि होनी चाहिए। उनका यह भी मानना था कि यह सत्य है कि ऐसा कह देने से काव्य में ये गुण उत्पन्न नहीं हो जाएंगे बल्कि समाज में मानवतावादी भावधारा का व्यापक और उत्कट प्रभाव हो और रचनाकार का व्यक्तित्व भी उत्कट हो।

'नई कविता एवं मेरी रचना–प्रक्रिया' में भी कवि का आत्म स्वीकार दिखाई देता है और निःसंकोच वे कहते हैं–''जिस तरह की काव्यधारा चली, या जैसी शैली चली, उसका प्रभाव मुझ पर भी पड़ा।'' अपने इसी निबंध में मुक्तिबोध काव्य संबंधी अपनी स्थापना देते हुए कहते हैं कि कविता में वे लय को आवश्यक मानते हैं इसलिए वे काव्य में विन्यास को भी अधिक महत्व देते हैं। उनका कहना है–''विन्यास कब तक ठीक नहीं होगा जब तक शृंखला न हो। कवि–कर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विन्यास से अंकुश रहता है। भाव इधर–उधर भटकते नहीं।''

16.4. सारांश–

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गजानन माधव मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया पर विस्तारपूर्वक चर्चा कर कवि–कर्म को तो महत्त्व प्रदान किया ही है साथ ही साथ आलोचक और पाठक को रचना के कई धरातलों पर सोचने–परखने की सूक्ष्म–दृष्टि प्रदान की है। आलोचक रचना–प्रक्रिया को समझते हुए यदि आगे बढ़ता है और रचना की समीक्षा करता है तो वह समीक्षा सटीक और सार्थक समीक्षा होगी। रचनाकार की रचना–प्रक्रिया की यात्रा उसका जटिल आत्म–संघर्ष है जो अन्ततः शब्द–साधना से मूर्त्त रूप लेता है अतः रचना–प्रक्रिया की समझ और अध्ययन आवश्यक है।

16.5. कठिन शब्द

1. स्थापनाएँ
2. तादात्मय
3. तदाकारिता
4. साहित्यिक
5. मनस्तत्त्वों
6. वैयक्तिक
7. निर्वैयक्तिक
8. आत्माभिव्यक्ति
9. आभ्यंतरीकरण
10. परिपूर्णावस्था
11. ज्ञानात्मक
12. संवेदनात्मक
13. प्रोत्साहित
14. जीवनानुभव
15. सृजनशीलता

16.6 अभ्यासार्थक प्रश्न

1. 'तीसरा क्षण' निबन्ध का सार अपने शब्दों में लिखिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. 'तीसरा क्षण' निबन्ध के आधार पर मुक्तिबोध के 'रचना–प्रक्रिया' संबंधी विचारों को स्पष्ट कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. मुक्तिबोध 'रचना–प्रक्रिया' पर विस्तारपूर्वक चर्चा करने वाले कवि हैं, सिद्ध कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. 'रचना–प्रक्रिया' संबंधी मुक्तिबोध के विचारों पर लेख लिखिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

16.7. सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एक साहित्यिक की डायरी, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ
2. मुक्तिबोध समग्र–6, सम्पादक नेमिचन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन
3. मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि, कृष्णदत्त शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
4. रचना–प्रक्रिया, ओम अवस्थी, राष्ट्रभाषा संस्थान, दिल्ली

———————